THE BOOK WAS DRENCHED

TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182898

UNIVERSAL
LIBRARY

UP—556—13-7-71—4,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY.

Call No. H 81 B15S Accession No. H1112

Author आलोचना व. निब-ध

Title साकेत - परीक्षण

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिन्दी-काव्य-साहित्य—

साकेत-परीक्षण

शम्भुप्रसाद बहुगुणा

मूल्य डेढ़रुपया

प्रकाशक:—
कुसुम पाल तथा शं० प्र० बहुगुणा,
आई० टी० कालेज,
लखनऊ।

सर्वाधिकार लेखक द्वारा स्वरक्षित

Checked 1960

मुद्रक:—
प्र० पाल
साथी प्रेस,
हीवेट रोड, लखनऊ।

अनुक्रमणिका:—

क्रम	विषय			पृष्ठ
१—	महाकाव्य-परम्परा	...	...	... १
२—	साकेत परीक्षण	....	...	... ५
३—	मैथिलीशरण गुप्त	...	...	...५६

———

१

महाकाव्य-परम्परा

विराट् विश्व के हिरण्य-गर्भ कवियों ने जिस महान् सत्य, शिव और सुन्दर को मानव-जीवन के लिए व्यवस्थित सुसंबद्ध महान् काव्य-कथा-रूप में प्रस्तुत किया वह महाकाव्य है। उसकी अभिव्यक्ति का ढंग प्रबंध-काव्य शैली है। महाकाव्य की रचना "जातीय संस्कृति के किसी महाप्रवाह, सभ्यता के उद्गम, संगम, प्रलय, किसी महच्चरित्र के विराट् उत्कर्ष, अथवा आत्म-तत्व के किसी चिर अनुभूत रहस्य को प्रदर्शित करने के लिए प्रबंध काव्य शैली में की जाती है।"

जीवन काव्य की सर्वाङ्गीण महान् चेतनाओं को सुचारु मनोहारी शक्ति संपन्न रूप में संवाहित करने के लिए महान् कथा को आलम्बन रूप में लेना आवश्यक हो जाता है। कथा में जन सामान्य की भी रुचि होती है। उस का प्रभाव हृदय पर पड़ता है, हृदय के सहारे मस्तिष्क को भी स्फूर्ति मिल सकती है, इन्द्रियों को भी स्फूर्ति, उत्तेजना और शांति प्राप्त हो सकती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, सब सिद्ध करा सकने वाली कथा को अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए महाकाव्यकार चुनता है; उसे कतर व्योंत कर अपनी मौलिक उद्भावनाओं से प्रभाविष्णु तथा प्रभावोत्पादक कलात्मक ढंग से पूर्ण सुन्दर और धारावाहिक बनाना है। ऐसा करने के लिए उसे नाटक, उपन्यास और कहानी की समष्टि शक्ति को लेकर साहित्य क्षेत्र में अवतीर्ण होना पड़ता है। मुक्तक द्वारा उसका काम नहीं चलता। मुक्तक में एक छन्द अपनी अलग दुनिया बसा कर रहता है। उसकी लघुतम कथा अपने

में ही पूर्ण होती है। दूसरे छन्दों मे वह किसी धारावाहिक रूप मे वर्णित कथानक द्वारा सम्बद्ध नहीं होता। उसमें घनीभूत भावना ही विचारों के मोती को चमकाती रहती है। कवि उसके द्वारा लोक दृष्टि मे जीवन का व्यापक प्रसार दर्शाने मे पर्याप्त रूप में समर्थ नहीं होता, अतएव उसे कथा रूप में प्रबन्ध का आलम्बन लेना पड़ता है। कथा का आधार मिल जाने से कवि की कल्पना विहंगिनी, कथा की शाखा प्रशाखाओं पर विश्राम लेती हुई, भावों के मुक्तक आकाश में सहज उड़ती है। कथावस्तु का आधार मिल जाना बड़ी बात नहीं; बड़ी बात है उस आधार का कलात्मक ढंग से उपयोग किया जाना। लेकिन कथावस्तु और कलात्मक ढंग ही काव्य नहीं है। काव्य हृदयस्थित भावों की दिव्य ज्योति है जिसकी तन्मय सुन्दरता की एक निष्ठ उपासना कवि के लिए सृष्टि के असीम सौन्दर्य्य के द्वार खोल देती है। वह देव कन्या है, सौन्दर्य्य-प्रभा है। हृदय की यह सरस्वती, स्वर्ग की यह मंदाकिनी, छन्द प्रबन्धों की सीमाओं में वाणी के संगीतमय वेग से बहती है। लिपिबद्ध हो कर वह रूप लेती है जिसे सब पढ़ सुन सकते हैं। ऐसे रूपों में पाये जाने वाले ग्रन्थ महाकाव्य हैं।

भारत के काव्य-इतिहास के महान् ग्रथ रामायण-महाभारत हैं जो युगों से जन जीवन को शक्ति देते चले आये हैं। रामायण के रचयिता आदि कवि वाल्मीकि और महाभारत के कर्ता कृष्णद्वैपायन व्यास माने जाते हैं। सस्कृत साहित्य में इन दो महाग्रन्थों के अतिरिक्त कालिदास (ईसा की चौथी पांचवी शताब्दी) के रघुवंश, कुमार-सम्भव, भारवि (६३४ ईसवी से पूर्व) के किरातार्जुनीय और माघ (ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) के शिशुपालवध की गणना महत्वपूर्ण महाकाव्यों मे विशेष रूप से की जाती है। इन्हीं को ध्यान में रखते हुए, ईसा की सातवीं शतब्दी में आचार्य दंडी ने अपने काव्यादर्श के महाकाव्यों के लक्षणों का निर्देश किया है।

महाकाव्य का कथानक ऐसा होना चाहिए जिसकी कथा समाज मे प्रचलित हो अथवा उसका आधार धार्मिक इतिहास हो अथवा ऐतिहासिक और सामाजिक कथाओं का मिश्रण हो, जिसमें सज्जनों की प्रशसा और दुष्टों की निन्दा होनी चाहिए। कथानक का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष,

आदि में से किसी एक की अथवा एक से अधिक की पूर्ति होना चाहिए। सम्पूर्ण रचना सर्ग बद्ध होनी चाहिए। कम से कम आठ सर्ग अवश्य हों, इससे कम सर्गों वाली रचना महाकाव्य नहीं कही जा सकती (मैथिलीशरण जी के सिद्धराज तथा जयद्रथवध खंडकाव्य शैली में है)।

महाकाव्य का नायक या तो ईश्वर का अवतार हो या ईश्वर या कोई क्षत्रिय हो, जो धीरोदात्त गुणों से युक्त हो। नायक को अच्छे कुल वाला होना आवश्यक है। यदि एक से अधिक नायकों की संख्या रक्खी गई हो तब वे सब उच्च कुल के क्षत्रिय राजकुमार हों।

महाकाव्य में एक रस का प्रधान रूप में और शेष रसों का गौण रूप में रहना आवश्यक है। शृंगार, वीर अथवा शांत रसों में से एक रस प्रधान होना चाहिए। बाकी रस गौण रूप में लाये जावें किन्तु ये शेष रस मुख्य रस के सहायक बन कर आवें।

महाकाव्य में बहुत से छन्दों का होना भी आवश्यक है। तरह तरह के भाव और विचार तरह तरह के छंद चाहते हैं। हर किसी छंद में हर किसी भाव अथवा विचार को ठीक तरह से व्यक्त नहीं किया जा सकता। विशेष भावनाओं के लिए विशेष विचारों के लिए, विशेष छंद काम में लाने पड़ते हैं। इसलिए महाकाव्य में तरह तरह की भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए प्रथक-प्रथक छंदों का प्रयोग नितान्त आवश्यक है। प्रत्येक सर्ग के अंत का छंद सर्ग के अंत के सर्ग से भिन्न होना चाहिए। इससे विश्राम और सर्ग समाप्ति की सूचना मिलती है।

महाकाव्य के आरम्भ में मंगलाचरण होना चाहिए। आरम्भ में किसी देवता अथवा देवी की स्तुति हो अथवा कथानक की सूचित करने वाला कोई पद्य हो या सज्जनों की प्रशंसा और दुष्टों की निन्दा से सम्बन्ध रखने वाला कोई छंद हो। ग्रन्थ का आरम्भ एकाएक न होना चाहिए। सर्ग का अन्त इस प्रकार से होना चाहिए जिससे उसके बाद में आने वाले सर्ग की कथा का कुछ आभास मिल जाय। आगामी सर्ग की सूचना का संकेत होना आवश्यक है।

महाकाव्य में प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण भी अवश्य होना चाहिए। सूर्योदय, प्रातःकाल, संध्या, दोपहर, रात्रि, बन, पर्वत, पवन, झरने, नदी, सागर आदि का वर्णन हो। दो प्रेमियों का संयोग-वियोग, पुत्र-जन्म, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, विवाह, युद्ध, आक्रमण आदि बातों का केवल वर्णन भर न हो वरन सजीव चित्रण हो।

महाकाव्य में पात्रों के चरित्र चित्रण में इस बात का ध्यान अवश्य रहना चाहिए कि दुष्टों की प्रशंसा तथा सज्जनों की निन्दा न हो जाय।

ग्रंथ का नाम या तो नायक के नाम पर हो या कथानक के नाम पर या किसी अन्य पात्र के नाम पर जो कि उस रचना में महत्त्वपूर्ण हो। उच्च वंश, उच्च आदर्श को ध्यान में धरते हुए भी नाम हो सकता है प्रत्येक सर्ग का नाम सर्ग की घटनाओं के अनुरूप रखना चाहिए।

महाकाव्य रचयिता को नाट्य शास्त्र की पांचों संधियों का भी पालन करना चाहिए। इससे घटनाओं में रोचकता और कथा निर्वाह में कलात्मकता आ जाने से रसानुभूति में सहायता मिलती है। प्रत्येक प्रसंग क्रमबद्ध रूप में रहने से प्रबन्ध शैली उस भूमि की उस राह को प्रस्तुत कर देती है जिस पर महाकाव्यकार के प्रतिभाकाश में चमकने वाली कल्पना की बिजलियों से श्रेष्ट विचारों के मेघों से छूटी अटूट भाव धाराओं की स्वर्ग सरिता, काव्य मन्दाकिनी, भागीरथी, हृदयजात सरस्वती की भुवन पावनी गंगा माई के रूप में स्वच्छन्द बहने लगती है। हिन्दी में इस प्रकार का महाकाव्य तुलसीदासजी का रामचरित मानस (१५७४-१५७६ ई०) है अपभ्रंश साहित्य में स्वयंभू (नवीं शताब्दी) का पउमचय्या, पुरानी हिन्दी में चदबरदाय का पृथ्वीराज रासो, अवधी में जायसी का पद्मावत है। प्रबंध काव्य शैली के अन्य हिन्दी ग्रन्थ रामचन्द्रिका (केशवदास) ब्रज विलास (ब्रजबासीदास), प्रियप्रवास (हरिऔध) रामचरित-चिन्तामणि (रामचरित उपाध्याय), राम चन्द्रोदय (रामलाल जुतशी), भरतभक्ति (कृष्ण शंकर शुक्ल) कौशल-किशोर तथा साकेत का अंत (बलदेव प्रसाद मिश्र), हल्दीघाटी, जौहर इत्यादि (श्याम नारायण पाँडे), सिद्धार्थ (अनूप शर्मा), विक्रमादित्य (गुरुभक्तसिंह) और कृष्णायन (द्वारका प्रसाद मिश्र) आदि हैं।

२

साकेत-परीक्षण

भारतीय साहित्य में राम-कथा का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वाल्मीकि की लेखनी से प्रसूता वह काव्य-रस-धारा, भारतवर्ष के हृदय-प्रान्त में अजस्र भाव से अमृत की सुर-धुनी की भाँति बह रही है। इसके पुण्य जल में किसने स्नान नहीं किया? इसके अमृत का पान किसने नहीं किया? कालिदास की कविताओं में वाल्मीकि की गहरी छाया पड़ी है। रामायण पढ़ते-पढ़ते पवन-तनय को राम का सन्देश लेकर अशोक वाटिका में सीता के पास जाते देखकर, कालिदास के हृदय में आसाढ़ के पहले मेघ को देखकर किसी यक्ष की विरह व्यथा जागी। पवन-तनय नीचे (लंका) की ओर उड़ता है और मेघ, ऊपर (अलका) की ओर। यक्ष की वधू भी विरहिणी सीता की छाया है; शायद अलकापुरी के निर्माण में रावण की सुवर्णमयी लंका का भी कुछ हाथ रहा हो। यक्ष कहता भी है मेघ! सन्देश को मेरी वधू ऐसा सुनेगी जैसा कि सीता ने पवन-तनय सन्देश को सुना था—'इत्याख्याते पवन-तनयं मैथिलीवोन्मुखी सा' और अन्त में यक्ष चाहता है कि मेघ उसकी पत्नी के पास से कोई स्मृति-चिन्ह लावे जैसा कि सीता के पास से पवन-तनय लाए थे। रघुवंश में वाल्मीकि की छाया और भी स्पष्ट है। वहाँ वाल्मीकि ऋषि की वन्दना भी कालिदास ने की है। भवभूति भी सबसे अधिक वाल्मीकि ही से प्रभावित हुए हैं। और हिन्दी में तुलसीदास जी के लिए नाभादास ने तो लिखा ही है 'कलि कुटिल जीव निस्तार हेतु वाल्मीकि तुलसी भयो' किन्तु तुलसीदास के हाथ की (१५८४ ई० में) लिखी वाल्मीकि रामायण की प्रतियाँ छिन्न रूप में मिलती हैं।

बाल्मीकि से तुलसी तक के राम-कथा के ये सभी कवि, सामूहिक जीवन की महान् चेतनाओं के विश्व-ईश्वर थे, महाकाव्य-कार थे। इसलिए उनके महाकाव्यों की कथावस्तु के केन्द्र जीवन के महान् आदर्श और उन आदर्शों की सबसे अधिक (समाज- सापेक्ष) पूर्ति करने वाले व्यक्ति ही हो सकते थे। विरोधी शक्तियाँ भी उतनी ही महान रहें, तभी जीवन के महानाटक में सांस्कृतिक संघर्ष की रोचकता के बीच कल्याणकारी आदर्शों की आत्म ज्योति स्थायी रूप में जगमगा सकती है। इसीलिए, वे महान पुरुषों के जीवन के उन्हीं सूत्रों को अपने महाकाव्यों में सुसबद्ध रूप स ग्रथित कर गए हैं जिनसे राष्ट्रीय जीवन को अधिक से अधिक आत्मबल मिल सकता है। अथवा उन आदर्शों की अभिव्यक्ति होती है जिन्हें ये विराट् कवीश्वर, जन-जीवन के लिये उपयोगी समझते थे। इनका लक्ष्य, राम के जीवन का काव्यमय इतिहास प्रस्तुत करना न था, वरन् उनके उन महान् कार्यों का सुसबद्ध काव्य कथा रूप में यशोगान करना था जिनके कारण वे मर्यादा-पुरुषोत्तम भर नहीं, ईश्वरावतार भी माने गये। इस लक्ष्य की सिद्धि में जो जीवन-चरितांश प्रधान रूप से सहायक सिद्ध नहीं होता, योग दान नहीं देता, वह स्वतंत्र रूप से कितनाही करुण कितना ही मार्मिक तथा काव्योपयोगी क्यों न हो, उसे छोड़ना ही उन्होने उचित समझा। जहाँ जितनी आवश्यकता हुई उसी सीमा तक उल्लेख कर दिया। यदि नाम भर दे देने से या एक झलक भर दिखला देने से अथवा संभावना संकेत से काम निकल जाता है तो उन्होंने यही किया है।

उन्नीसवीं शताब्दी भारत में व्यक्तिवाद को लेकर आई जिसमें वंश गौरव, कुल गौरव, समाज सापेक्ष सांस्कृतिक गौरव का प्रतिनिधित्व करने वाले जीवन चरितांशों स भी अधिक महत्व व्यक्तिगत जीवन के इतिहास और मानव के एकान्तिक सुख दुखों को मिलता है। युग की इस चेतना ने सांस्कृतिक गौरव की पुनरुत्थान चेतना की हलचल के साथ ही साथ साहित्य में भी अभिव्यक्ति पाई। रवीन्द्रनाथ और उनका साहित्य इन दुहरी चेतनाओं के बीच विकसित हुए। प्राचीन साहित्य को उन्होंने इस व्यक्तिवादी दृष्टि-कोण से देखा-समझा और उसके विषय में अपने विचार प्रकट किए। उनके विचार 'प्राचीन साहित्य' में संचित हैं जो वर्षों पहिले हिन्दी में भी छप गये थे। 'प्राचीन साहित्य' में एक लेख 'काव्यरे उपेक्षिता' है जिसमें राम-

कथा-कारों की भी चर्चा है। इसी में उर्मिला का प्रसंग है। हिन्दी-ग्रथ-रत्नाकर बम्बई से छपे हिन्दी-रूपान्तर में वह अंश इस प्रकार मिलता है—

"जिस समय उर्मिला ने अपने उज्ज्वल ललाट में सिंदूर विन्दु धारण किया था, उसी दिन की नव-वधू वह सदा बनी रही। किन्तु जिस दिन राम राज्याभिषेक के मंगल साधनों का आयोजन करने में अन्तःपुर वासिनी ललनाएं लगी हुई थीं, वह नववधू क्या अपना घूंघट ऊपर उठाकर रघुकुल लक्ष्मियों के साथ प्रसन्न मुख से मगल रचना में व्यस्त न थ ? और जिस दिन अयोध्या में अँधेरा करके तपस्वियों का वेश बनाए दोनों राज-किशोर, सीता को साथ लेकर बनवास के लिए बाहर हुए, उस दिन बधू उर्मिला राजप्रासाद के किस एकान्त कक्ष में, वृन्तच्युत कलिका की भांति धूल में लोट रही थी, यह क्या कोई जानता है ? उस दिन के उस विश्वव्यापी विलाप के भीतर इस विदीर्यमाण क्षुद्र तथा कोमल हृदय के असह्य शोक को किसने देखा था ?

लक्ष्मण ने अपना अस्तित्व राम के लिए एकदम खो दिया था। यह गौरव कथा भारत में आज भी घर घर कही जाती है, किन्तु सीता के लिए उर्मिला का अपना आस्तित्व खोना, केवल संसार में ही नहीं काव्य में भी घोषित हो रहा है। लक्ष्मण ने अपने दोनों देवताओं—सीता-राम के लिए केवल अपने को ही उत्सर्ग किया और उर्मिला ने अपनी अपेक्षा भी अधिक अपने स्वामी को समर्पण किया। काव्य में वह कथा न लिखी गई। सीता के आँसुओं के जल से उर्मिला एकदम पुँछ गई

लक्ष्मण ने तो बारह वर्ष अपने उपास्य प्रियजनों के प्रिय कार्य करने में बिताये, पर नारी जीवन के ये श्रेष्ठ बारह वर्ष उर्मिला ने कैसे बिताये ! सलज्ज, नव-प्रेमामोदित और विकासोन्मुख हृदय-मुकुल लेकर, स्वामी के साथ जब इसका प्रथमतम तथा मधुरतम परिचय आरम्भ हुआ तभी तो सीतादेवी के अरुण चरण विक्षेप की ओर नम्र दृष्टि से देखते हुए लक्ष्मण बन चले गये। जब वे लौटे तब क्या वधू के चिरन्तन प्रणय लोक-विरहित हृदय में वह पहली नूतनता थी ? पीछे से सीता के दुख के साथ उर्मिला के दुख की कोई तुलना न करने लगे, क्या इसी से कवि ने महादुखिनी

को सीता के स्वर्ण मन्दिर से बाहर कर दिया—जानकी के पादपीठ के पास भी उसे स्थान देने का साहस न किया !"

बगला-साहित्य को विरही बना, उपनिषदीय कबीर की वाणियों की बावलों के गीतों सहित आत्मसात कर गीतांजलि की रचना रवीन्द्रनाथ के हृदय ने बीसवीं शताब्दी में की और संतप्त पश्चिम के आकुल हृदय को भारतीय अमृत पिला, नोबल प्राइज़ प्राप्त कर लिया। उनकी ओर सबका ध्यान गया, सब ने उनके स्वर सुने। बंगला जानने वाले रूपनारायण पांडे और मैथिलीशरण गुप्त ने भी वे स्वर सुने। हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर तथा इंडियन प्रेस की कृपा से सर्वग्राही कर्मठ महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी उन्हें सुना और सरस्वती के द्वारा 'कवियों की काव्य विषयक उदासीनता' के विकृत रूप में बगला न जानने वाले हिन्दी पढ़े लिखे लोगों तक उसकी प्रतिध्वनियाँ पहुचाईं।

"कवि स्वभाव से ही उच्छृंखल होते हैं। वे जिस तरफ़ झुक गये, झुक गये। जी में आया ता राई का पर्वत कर दिया; जी में न आया तो हिमालय की तरफ भी आंख उठाकर न देखा। यह उच्छृंखलता या उदासीनता सर्व साधारण कवियों में तो देखी ही जाती है, आदि कवि तक इससे नहीं बचे। क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक पक्षी को निषाद द्वारा बध किया गया देख जिस कवि शिरोमणि का हृदय दुख से विदीर्ण हो गया और जिसके मुख से 'मा निषाद' इत्यादि सरस्वती सहसा निकल पड़ी, वहीं पर दुख कातर मुनि, रामायण निर्माण करते समय एक नव परिणीता दुःखिनी बधू को बिलकुल भूल गया। विपत्ति-विधुरा होने पर उसके साथ अल्पादल्पतरा समवेदना तक उसने प्रकट न की—उसकी खबर तक न ली।

बाल्मीकि रामायण का पाठ किंवा पारायण करने वालों को उर्मिला के दर्शन सबसे पहले जनकपुर में सीता मांडवी और श्रुतकीर्ति के साथ होते हैं। सीता की बात तो जाने ही दीजिए। उनके और उनके जीवनाधार रामचन्द्र के चरित्र चित्रण ही के लिए रामायण की रचना हुई है। मांडवी और श्रुतकीर्ति के विषय में कोई विशेषता नहीं। क्योंकि आगे से भी अधिक संताप देने वाला पति वियोग उनको हुआ ही नहीं। रही बाल वियोगिनी देवी उर्मिला, सो उस का चरित्र सर्वथा गेय और आलेख्य होने पर कवि ने

उनके साथ अन्याय किया। मुने! इस देवी की इतनी उपेक्षा क्यों? इस सर्व[illegible]ता के विषय में इतना पक्षपात—कार्पण्यं क्यों? क्या इसलिए कि इस का नाम श्रुति-सुखद, इतना मंजुल, इतना मधुर है और तापस जनों का शरीर सदैव शीतातप सहने के कारण कठोर और कर्कश होता है—पर नहीं आप का काव्य पढ़ने से तो यही जान पड़ता है कि आप कठोरता प्रेमी नहीं। भवतु नाम। हम इस उपेक्षा का एक मात्र कारण भगवती उर्मिला का भाग्य दोष ही समझते हैं। हत विधि लसते परम कारुणिकेन मुनिना वाल्मीकिनाम विस्मृतासि।

हाय वाल्मीकि! जनकपुर में तुम उर्मिला को सिर्फ़ एक बार वैवाहिक वधू वेश में दिखाकर चुप हो बैठे। अयोध्या आने पर ससुराल में उसकी सुधि यदि आपको न आई थी तो न सही पर क्या लक्ष्मण के बन प्रयाण समय में भी उस के दुःखाश्रु मोचन करना आपको उचित न जँचा? रामचन्द्र के राज्याभिषेक की जब तैय्यारियाँ हो रही थीं, जब राजान्तपुर ही क्यों सारा नगर नंदनवन बन रहा था, उस समय नवला उर्मिला को कितना आनन्द होता, इस का अनुमान क्या आप ने नहीं किया? हाय! वही उर्मिला एक घण्टे बाद राम जानकी के साथ निज पति को चौदह वर्ष के लिए बन जाते हुए देख छिन्नमूल शाखा की तरह राज-सदन की एकान्त कोठरी में भूमि पर लेटी हुई आप के नयन गोचर नहीं हुई? फिर भी उस के लिए आपकी 'वचने दरिद्रता'! उर्मिला वैदेही की छोटी बहिन थी सो उसे बहन का वियोग सहना पड़ा और प्राणाधार पति का भी वियोग सहना पड़ा। पर इतनी घोर दुखिनी होने पर भी आपने दया न दिखाई। चलते समय लक्ष्मण को उसे एक बार आँख भर देख भी न लेने दिया। जिस दिन राम और लक्ष्मण, सीता देवी के साथ चलने लगे, जिस दिन उन्होंने अपने पुर त्याग से अयोध्या नगरी को अंधकार में, नगर वासियों को दुःखोदधि में और पिता को मृत्यु मुख नपतित किया उस दिन भी आप को उर्मिला की याद न आई। उस की क्या दशा थी, वह कहाँ पड़ी थी सो कुछ भी आप ने न सोचा। इतनी उपेक्षा?

[illegible]लक्ष्मण ने अकृत्रिम भातृ-स्नेह के कारण बड़े भाई का साथ दिया! उन्होंने राजपाट छोड़ कर अपना शरीर रामचन्द्र को अर्पण किया। यह बहुत

बड़ी बात थी पर उर्मिला ने इससे भी बढ़कर आत्मोत्सर्ग किया। उस ने अपनी आत्मा की अपेक्षा भी अधिक प्यारा अपना पति राम-जानकी के लिए दे डाला और यह आत्म सुखोत्सर्ग उसने तब किया जब उसे ब्याह कर आये हुए कुछ ही समय हुआ था। उसने अपने सांसारिक सुख के सब से अच्छे अंश से हाथ धो डाला। जो सुख उसे विवाहोत्तर मिलता, उस-की बराबरी चौदह वर्ष पति-वियोग के बाद का सुख कभी नहीं कर सकता। नवोढत्व को प्राप्त होते ही जिस उर्मिला ने, रामचन्द्र और जानकी के लिए अपने सुख सर्वस्व पर पानी डाल दिया, उसी के लिए अनादर्शी आदि कवि के शब्द भण्डार में दरिद्रता !

पति प्रेम और पति-पूजा की शिक्षा सीता देवी को जहाँ मिली थी, वहीं उर्मिला को भी मिली थी। सीता देवी की सम्मतिः—

" जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते, पिय बिनु तियहिं तरनि तें ताते "

उर्मिला की क्या यह भावना न थी ? जरूर थी। दोनों एक ही घर की थीं। उर्मिला भी पति-परायणता-धर्म को अच्छी तरह जानती थी, पर उस ने लक्ष्मण के साथ बन-गमन की बात जान बूझकर नहीं की। यदि वह भी साथ जाने को तैयार होती तो लक्ष्मण को अपने से बड़े राम के साथ उसे ले जाने में सकोच होता और उर्मिला के कारण लक्ष्मण अपने उस आराध्य युगम की सेवा भी अच्छी तरह न कर सकते। यह बात उस के चरित्र की बहुत बड़ी महत्ता की बोधक है। वाल्मीकि को ऐसी उच्चाशय रमणी का विस्मरण होते देख किस कविता-मर्मज्ञ को आंतरिक वेदना न होगी ?

तुलसीदास जी ने भी उर्मिला पर अन्याय किया है। आपने इस विषय में आदि कवि का अनुकरण किया है। 'नाना पुराण निगमागम-सम्मत' लेकर जब रामचरित-मानस रचना करने की घोषणा की थी तब यहां पर आदि काव्य को ही अपने वचनों का आधार मानने की वैसी कोई ज़रूरत न थी। आपने भी चलते वक्त लक्ष्मण को उर्मिला से न मिलने दिया। माता से मिलने के बाद झट कह दिया—'गए लखन जहँ जानकि नाथा।'

आपके—इष्टदेव के अनन्य सेवक 'लषण' पर इतनी सख्ती क्यों ! अपने कमण्डलु के करुण-वारि का एक भी बूंद आपने उर्मिला के लिए न

रक्खा। सारा का सारा कमण्डलु सीता को अर्पित कर दिया। एक ही चौपाई में उर्मिला की दशा का वर्णन कर देते। अथवा उसी के मुँह से कुछ कहलवाते। पाठक सुन तो लेते कि राम-जानकी के बनवास और अपने पति के वियोग सबंध में क्या क्या भावनाएं उसके कोमल हृदय में उत्पन्न हुई थीं। उर्मिला को जनकपुर से साकेत पहुँचाकर उसे एकदम ही भूल जाना अच्छा नहीं हुआ।

हां, भवभूति ने इस विषय में कुछ कृपा की है। राम-लक्ष्मण और जानकी के बन से लौट आने पर भवभूति को बेचारी उर्मिला एक बार याद आ गई है। चित्रफलक पर उर्मिला को देख कर सीता ने लक्ष्मण से पूछा—'इयमपरा का?' अर्थात् यह दूसरी कौन है? इस प्रकार से देवर से पूछना कौतुक से खाली नहीं, इसमें सरसता है। लक्ष्मण इस बात को समझ गये। वे कुछ लज्जित होकर मन ही मन कहने लगे—उर्मिला को सीता-देवी पूछ रही हैं। उन्होंने सीता के प्रश्न का उत्तर दिए बिना ही उर्मिला के चित्र पर हाथ रख दिया। उनके हाथ से वह ढक गया। कैसे खेद की बात है कि उर्मिला का उज्ज्वल चरित्र-चित्र कवियों के द्वारा भी आज तक उसी तरह से ढकता आया।"

द्विवेदी जी की ये विकृत ध्वनियाँ हिन्दी के कवियों तक उस समय पहुँचीं जब अभी ब्रजभाषा से आती हुई सत्रहवीं शताब्दी की रसिकता, चमत्कार-वादिता, अलंकार प्रियता और कौशल-प्रदर्शन-प्रवृत्ति का जादू साहित्यिक रूढ़ियों के बन्दियों के सिर चढ़ा बोल रहा था और दूसरी ओर युग की चेतना के अनुकूल भाषा को साहित्य के लिए अपनाने वाले लोग ब्रजभाषा के मोह को खेद के साथ उसी तरह छोड़ते हुए खड़ी बोली में काव्य साहित्य का भी निर्माण करने लगे थे जिस तरह केशवदास ने जहाँगीर के समय में संस्कृत का मोह छोड़कर 'भाषा' में रामचन्द्रिका की रचना की थी। यह वह समय था जब संस्कृत की चाशनी में डुबोया 'प्रिय-प्रवास' कृष्ण-काव्य प्रेमियों तथा खड़ी बोली के विरोधियों को शान्त कर उनके पक्ष-पातियों के सम्मुख नवीन ग्रंथ निर्माण का आदर्श प्रस्तुत कर रहा था; और निराला, प्रसाद, पंत तथा उन्हीं के ढग के अन्य कवि, सब भाषाओं से उनकी विशेषताओं को लेकर अपनी भावक कल्पनाओं से उन्हें हिन्दी में मिला

इस नवीन स्वच्छंद शैली में बहुमुखी साहित्य के सृजन में यत्नवान थे; जब घटनाचक्रों ने भारत के आन्दोलित जीवन में महात्मा गांधी और उनके अनुयायियों का उदय कर दिया था, प्राचीन इतिहास तथा साहित्य भी जीवन ही की तरह पुरानी केंचुली तोड़ नई रोशनी में साँस ले रहे थे; जब ईश्वर भी, मानवता के रूप में, ऐतिहासिक छानबीन का विषय बन गया था; जब भावुकता भी तर्क की तुलापर तोली जाकर वैयक्तिक जीवन की छोटी छोटी मुक्ताओं में असंबद्ध रूप में पिरोई जाने लगी थीं; और वे ही महान् समझे जाने लगे थे; उनके संचय ही महाकाव्य गिने जाने लगे थे। योरप के महायुद्ध ने, और अंगरेज़ों की भारतीय नीति ने यह दिखला दिया था कि जन से भी अधिक महत्त्व अब धन का हो गया है। ऐसे युग में गौतम और कालिदास के स्वरों को सुनने-सुनाने का प्रयत्न हिन्दी में जयशंकर प्रसाद ने किया और तुलसी के मानस तथा पौराणिक साहित्य की परंपरागत जन-निधियों को रवीन्द्रनाथ के स्वरों, उन की महावीरी विकृत ध्वनियों तथा रीतिकालीन वृत्तियों और अपने युग की आंशिक चेतनाओं को अल्हैतों की भाँति प्रस्तुत करने का बीड़ा आल्हा-ऊदल के स्वरों से गूँजते बुँदेलखंड में जन्मे, मुंशी अजमेरी से पढ़े, तथा महावीरी लांगूल से बढ़े मैथिली-शरण जी गुप्त ने उठाया। रवीन्द्र की विरहिणी उर्मिला; रूपनारायण जी पांडे की लेखनी से उर्मिला के रूप में ही 'माधुरी' में छपी कविता भर रह गई। किन्तु सरस्वती, महावीरी सरस्वती में मैथिलीशरण जी गुप्त की जो बिरहिणी उर्मिला प्रकाशित हो रही थी, उसने एक दिन साकेत का रूप ले लिया और (१९१५-२५ ई०) तक के पन्द्रह सोलह वर्षों के लम्बे समय में अपनी चेतना से भिन्न तथा सरस्वती के बहिष्कृत छायावादी कवियों की छायाएँ भी विषैले तक्षकों की भाँति उसको डस ही गईं। गाँधी जी की विचारधारा, नारी आन्दोलन, धन-जन-संघर्ष, राज्य-संघर्ष, शिक्षा-प्रसार, कर्म-गौरव आदि से भी उर्मिला बिरहिणी घेर दी गई। परिस्थितियों ने उर्मिला को बिरहिणी उर्मिला न रहने दिया उसे 'साकेत' बना डाला। साकेत भी ऐसा, जो संतप्त नहीं, जिसमें दुखिया उर्मिला नहीं, उस की वेदना नहीं, मानव राम नहीं, ईश्वर राम नहीं, कालिदास नहीं, तुलसी नहीं, महान काव्यत्व नहीं, प्रबन्ध पटुता नहीं, राष्ट्रीयता नहीं, राष्ट्रीय चेतना नहीं, प्राचीनता नहीं, नवीनता नहीं, आंतरिक अनुभूति (वेदना) नहीं, मौलिकता

नहीं, प्रतिभा नहीं, और फिर भी थोड़ा थोड़ा सभी कुछ है।

तुलसी के मानस का पारायण करने वाले आल्हा प्रिय गुप्त जी के हृदय में रवीन्द्रनाथ के स्वर, महावीर के स्वर चारों ओर से बैठ गये। तुलसी के मानस की माई शारदा की उक्ति—चाह करहिं कुशल कवि मोरी' प्रतिदिन मानस का पाठ करने पर भी गुप्त जी के हृदय की कठोर कविता भूमि में बीज बन कर अंकुरित न हो पाई। रवीन्द्रनाथ के एक एक शब्द पर ध्यान देकर उर्मिला का निर्माण-विधान तैय्यार किया गया जिस में बाद को और भी चित्र और रंग भर दिये गए किन्तु इसी से रवीन्द्री विधान दब नहीं जाता। उस के एक एक अक्षर का पालन साकेत में सतर्क रीति से हुआ है, किन्तु महावीर का प्रसाद पाने वाले प्राचीन संस्कारों के आल्हा गायक में रवीन्द्रनाथ की उन्मुक्त आकाश में स्वच्छद रूप से विचरण करने वाली आत्मा की वेदना कहाँ से आ जाती ? छायावादियों को भी वे अपने हिन्दू की भूमिका में फूलों में छिपे नाग के रूप में पूज रहे थे। परिणाम वही हुआ जो हो सकता था। गुप्त जी का हृदय, रवीन्द्रनाथ के हृदय की 'काव्येर उपेक्षिता' की वेदना का अनुभव ही न कर पाया और साकेत की रचना समाप्त हो जाने पर भी बिना रोये ही उर्मिला रह गई। उर्मिला की वेदना अक लेख के एक अंश में ही अटा सकने लायक थी। रवीन्द्रनाथ ने उसे मोती रूप में समेट लिया। रवीन्द्रनाथ के मोती देख, लोग भ्रमजाल में पड़ गए। समझने लगे 'उस मोती को लेकर महाकाव्य रचा जा सकता है, मुक्तक काव्य की प्रवृत्ति के युग में एक ही मोती का महाकाव्य बनेगा, अधिक से अधिक दो चार ही मोती सही। रामकथा के पुराने महाकाव्य-कारों ने उर्मिला की उपेक्षा की। उस के साथ अन्याय किया जो उसकी व्यथा को अपने महाकाव्यों का प्रधान रूप नहीं बनाया।

'रवीन्द्रनाथ कह रहे हैं, नोबल प्राइज़ पाने वाले महाकवि कह रहे हैं इसलिए सब ठीक है। उपेक्षिता' उर्मिला का उद्धार किया जाना चाहिए उसकी कथा के वर्ण वर्ण से कवि जनों के ताम्र पत्र सुवर्ण के बन जावेंगे, लेकिन यह ध्यान न आया कि रवीन्द्रनाथ ने उन्हें किस रूप में प्रस्तुत किया है, उनकी वेदनाओं, त्याग, तपस्याओं को लेकर प्रबन्ध शैली में महा-काव्य रचे हैं या मुक्तक शैली में गद्य काव्य के एक लेख भर में कइयों को

एक साथ प्रस्तुत किया है। रवीन्द्रनाथ अपनी वेदना अपनी प्रतिभा के कारण विश्व के महान् कवि स्वतः बन गये किन्तु रुदन्ति विरहिणी के रुदन रस के लेप को और उसके प्रिय विरह विक्षेप से ताप को पाकर भी गुप्त जी अपने ताम्र-पत्र को सुवर्ण का नहीं बना सके, उस सुवर्ण का जिसके वर्ण वर्ण कर्ण के विभूषण सदैव के लिए बन जाते।

गुप्त जी ने उर्मिला विषयक साकेत की अपनी इस असफलता तथा इस असमर्थता का अनुभव कई रूपों में किया है। साकेत के निवेदन में उन्होंने कहा ही है—

"यों तो साकेत दो वर्ष पूर्व ही पूरा हो चुका था परन्तु नवम सर्ग में तब भी कुछ काम शेष रह गया था और मेरी भावना के अनुसार वह आज भी अधूरा है (१९८८ वि० सं; १९३१ ई०)

नवम सर्ग के आरम्भ में भी खिन्न होकर लिख दिया है —

विफल जीवन व्यर्थ बहा बहा, सरस दो पद भी न हुए हहा!
कठिन है कविते तव भूमि ही पर, यहाँ श्रम भी सुख-सा रहा!

साकेत सुनने के पश्चात गाँधी जी ने गुप्त जी को पत्र में लिखा— 'उर्मिला को अधिक रुला दिया है।' गुप्त जी ने उत्तर लिख भेजा— 'बापू वह रोई ही नहीं। रोती तो आप को बकरी का दूध मिलना भी असम्भव हो जाता।"

गुप्त जी ने श्रम को सुख-सा तो इसलिये मान लिया कि जिस कथा को करुणामूर्ति भवभूति तक ने छोड़ दिया उसे अपना कर साकेत लिखा है, किन्तु तब भी दुख बना ही रहा, इसका कारण ?

पहला कारण यह है कि उर्मिला का त्याग, उस का रुदन, उस की वेदना को गुप्त जी स्वयं न देख पाये। रवीन्द्रनाथ और महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें सुनाया कि उर्मिला रो रही है, उसने त्याग किया है।

दूसरा कारण यह है कि वे अपनी सख्य भाव की उपासना को तुलसी की दास्य भावना की रामचरित-मानसीय उपासना की ओढ़नी ओढ़ा कर

चले। एक की रक्षा के लिये दूसरी को न त्याग सके। गांधीजी को भेजे गए एक पत्र में उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है —

"सख्य भाव की उपासना में दीक्षित होते हुए भी मान के राम के समीप मुझे बहुत सावधान रहना पड़ता है। उनकी मित्रता मानो राजा की मित्रता है जो हाथों पर चढ़ाते-चढ़ाते शूलों पर चढ़ा सकती है। इसलिए मुझे उनसे डर लगा रहता है। वह अभ्यस्त भय साकेत में भी नहीं छूटा और मुझे उन्हें प्रभु कहते ही बना है।"

इस पत्र में आये 'अभ्यस्त भय' से स्पष्ट है कि गुप्त जी की राम के प्रति आंतरिक जो भावना है वह प्रभु की नहीं है। केवल बचपन के संस्कारों के कारण है। बचपन से ही तुलसी साहित्य को अपने पिता से गुप्त जी सुनते चले आये थे। दूसरी ओर युग की परिस्थितियाँ ईश्वर को मानव रूप में देखने लगी थीं। साकेत के मुख पृष्ठ पर अंकित "राम तुम मानव हो···तब मैं निरीश्वर हूं ईश्वर क्षमा करे···"···शब्द तथा तुलसी के मानस से उद्धृत तथा साकेत समर्पण में व्यक्त विचार बता रहे हैं कि गुप्त जी बचपन से ही 'मानस' तथा तुलसी साहित्य को सुनते चले आये हैं।

किन्तु स्वयं भी गुप्त जी ने मानस का पारायण किया। उससे जो कुछ लिया जा सकता था लिया और साथ ही रवीन्द्रनाथ तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी के शब्दों पर भी मनन किया। मानस में जो कमियाँ उन्हें अब दिखाई देने लगीं उन्हें उर्मिला की कथा के बहाने दूर करने का विचार जम गया। इसी विचार ने साकेत को जन्म दिया। गुप्त जी ने २६ अक्टूबर १९४२ ई० में 'राम काव्य का एक आधुनिक कवि' शीर्षक मेरे एक लेख तथा उसके साथ भेजे गये पत्र के उत्तर मे लिख भेजा—"मानस से मुझे जो प्रसाद मिला है, साकेत उसकी स्वीकृति है"

मानस के प्रसाद की स्वीकृति साकेत है किन्तु महावीर के प्रसाद की भी स्वीकृति होने से रवीन्द्रनाथ के प्रसाद की स्वीकृति भी वह स्वतः हो जाता है।

"करते तुलसीदास भी कैसे मानस-नाद !
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद।"

यह स्वीकृति साकेत को एक ओर महाकाव्य शैली की ओर बढ़ाती है, दूसरी ओर उर्मिला की ओर; जो कि मुक्तक अथवा खण्डकाव्य शैली में पंचवटी के ढग से लिखी जाने योग्य थी। साकेत की असफलता का तीसरा कारण यही द्विधा वृत्ति है। साकेत में लक्ष्य की एकान्विति तथा कथा सूत्र की सुसंबद्धता का अभाव भी इस ग्रंथ को भ्रष्ट बनाता है।

एक और भी कारण साकेत को असफल रचना बनाने में सहायक हुआ है, वह है जीवन की परिस्थितियों से उत्पन्न समय-चक्र का दीर्घकालीन व्यवधान। साकेत का आरम्भ १९१५-१६ ई० में हो गया था, उसकी समाप्ति १९२९ ई० में हुई; और उसका प्रकाशन १९३१ ई० में। समय का यह व्यवधान मानसिक स्थिति में उत्साह को एक रस नहीं रहने देता फलतः साकेत जैसी स्थूलकाय रचनाओं की कौन कहे, 'विश्व वेदना' जैसी छोटी रचनाओं में भी सम्बन्ध निर्वाह हो सकना कठिन हो जाता है। समय के व्यवधान से इस प्रकार साहित्य में अनेक सुन्दर कृतियाँ मन चाहे रूप में रह ही नहीं पातीं। चन्द्रकुँवर बर्त्वाल की रचनाओं में भी परिस्थिति से उत्पन्न यह दोष पाया जाता है। किन्तु परिस्थितियाँ यदि अपने हाथ में ही सदैव रह पातीं तो मनुष्य, स्वय ही ईश्वर न हो गया होता—

जग में यदि मन चाहती होती अपने हाथ,
कौन विधाता का कहो देता फिर तो साथ।

चन्द्रकुँवर बर्त्वाल

राम-कथा के बहाने साकेत प्रोषित पतिका उर्मिला की काम वेदना का भीषण कंकाल बन गया है। यदि प्रोषित पतिकाओं को ही केन्द्र बना कर वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी अपने काव्य लिखते तो रामायण, रघुवंश और मानस के कहीं भी दर्शन न होते। इन महर्षियों ने भी राम सीता की उपेक्षा कर उर्मिला को ही महत्व दिया होता तो राम ईश्वर न हुए होते! वाल्मीकि और तुलसी का पाठक जिस समय, अकेले धनुर्धर राम को खर और दूषण की अपार सेना का संहार करते हुए देखता है, जिस समय वह सीता विहीन राम को खग-मृग-मधुकर-श्रेणी से, सीता

मृग नैनी के विषय में पूछता हुआ सुनता है उस समय साकेत का पाठक रुदन्ती विरहिणी उर्मिला के कमरे में बैठ कर सुनता है, उर्मिला कह रही है—

प्रोषित पतिकाएँ हों जितनी भी, सखि, उन्हें निमन्त्रण दे आ,
सम दुखिनी मिलें तो दुःख बँटें, जा, प्रणय पुरस्सर ले आ।

साकेत, उर्मिला और लक्ष्मण के कमरे से शुरू होता है और साकेत का एक बहुत बड़ा भाग उसी कमरे में और उसी कमरे के आसपास बगीचे में तथा हंसों से भरे सरोवर के किनारे कट जाता है।

साकेत में भद्दी तुकबंदियों की कमी नहीं है, पर जिस समय उर्मिला के मुख से—दोनों ओर प्रेम पलता है, सती हीन ज्यों शूली, वह तो तेरा रुदन था मैं समझी थी गान, विचारती हूँ सखि मैं कभी कभी, तथा सिर माथे तेरा यह दान, हे मेरे प्रेरक भगवान, आदि शब्द सुनने को मिलते हैं, हृदय में उस समय अपूर्व वेदना का अनुभव होने लगता है और मन सोचने लगता है—'शायद इसी नारी के तप के प्रभाव से, मेघनाद की अमोघ शक्ति का प्रहार सह कर भी लक्ष्मण जी उठे होंगे।'

साकेत की अनेक कमज़ोरियाँ हैं, किन्तु एक महानतम मौलिक विशेषता भी है। चित्रकूट में लक्ष्मण-उर्मिला के मिलन की संभावना को गुप्त जी ने पहले पहल देखा और उसे सफलता के साथ कार्य रूप में परिणित कर दिखाया। युग को साकेत का जो कुछ भी संदेश है, चर्खे और कमल का जो कुछ इतिहास है वह सदैव नहीं रह सकता, किन्तु राम कथा को साकेत की चिर-स्मणीय मौलिक देन यह चित्रकूट में लक्ष्मण-उर्मिला मिलन सम्भावना ही है। गीतों का प्रयोग नई बात नहीं है। रघुवंश, कुमारसम्भव आदि में तथा चारण साहित्य के प्रबन्ध काव्यों में वह बराबर मिलता है।

मानस की कमियों को दूर करने के लिये तुलसी ने गीतावली की रचना की। पंडित रामचन्द्र शुक्ल को यह बात न दिखलाई दी तो उन्हों ने मानस के अयोध्या सोपान के कैकई-भरत-प्रसंग के भरत के कटु वचनों का समर्थन तुलसीदास सम्बन्धी अपने लेखों में किया; मानस

के उत्तर सोपान में तुलसी ने उसे भरत के ही द्वारा दुर्बलता के रूप में स्वीकार करवा दिया था और उस से भी संतोष न हुआ तो गीतावली में उस का परिष्कार कर दिया। 'कैकेयी जौं लों जियति रही, तौलों बात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कही।' में यह परिष्कार चरम उत्कर्ष पर है। भरत भूल कर भी कोई बात मुँह फुला कर नहीं कहते। उन्हें सदैव यह ध्यान रहा कि माँ के मन को दुखाने की नहीं; शान्ति देने की आवश्यकता है। कौशल्या, कैकेई, लक्ष्मण आदि के चरित्रों में जो कमियाँ रह गई थीं उन्हें भी गीतावली में दूर किया। बालि, विभीषण आदि के कार्यों पर तुलसी ने मानस में खुले रूप में उत्तर सोपान से पहिले भले ही कोई आक्षेप न किया हो, दोहावली में अवश्य गहरी चोटें कसी हैं, शुक्ल जी फिर भी वकालत करने चले। मैथिलीशरण जी ने साकेत की रचना द्वारा मानस की कमियों को दूर करने का यत्न किया किन्तु गीतावली से कोई विशेष लाभ उठाया, ऐसा नहीं दिखालाई देता। साकेत को वे पूर्णता न दे सके। उसमें लक्ष्मण, सीता और राम का गौरव रक्षित न रह सका। लक्ष्मण का चरित्र नीचे से नीचे गिर गया तो पंचवटी की रचना से इन दोषों का प्रायश्चित कर लिया। पंचवटी में लक्ष्मण चांदनी ही की भाँति खिल उठे हैं, उन का रूप गीतावली के लक्ष्मण की टक्कर का भले ही न हो किन्तु उस रूप में ही वास्तविक उर्मिला है। साकेत में तो उस की छाया भी नहीं है।

अपने स्थान पर साकेत की भी सार्थकता है। अन्धकार में टिमटिमाते बुझते दिये भी काम दे जाते हैं, किन्तु उसे वह स्थान कदापि प्राप्त नहीं हो सकता जो स्थान रामायण और मानस ने पाया है क्योंकि पाठक यद्यपि उर्मिला के त्याग की प्रशंसा करता है तब भी उसे रामचन्द्र के पास पंचवटी, दंडकारण्य आदि भूभागों में फिरना, उर्मिला के रुदन सुनने की अपेक्षा अच्छा लगता है। वाल्मीकि रामायण और रामचरित मानस के सामने साकेत ऐसा ही लगता है मानो किसी ने सूर्य्य में धब्बे देख कर उस पर दिये जला दिये हों।

३

मैथिलीशरण जी ने एक दिन, प्रसाद, पंत, निराला आदि के कवित्व को लक्ष्यहीन ठहराते हुए अपने को सत्यम्, शिवम् का उपासक बतलाया था और कला में उपयोगितावाद की घोषणा करते हुए अपने 'हिन्दू' की भूमिका में लिखा था—"कला में उपयोगिता के पक्षपातियों से कहा जाता है कि सच्चे सौन्दर्य का विकास होने पर अशोभन के लिए अवकाश ही नहीं रहता, उसकी अनुभूति से मन में जो आनंद की उत्पत्ति होती है उसमें विकार कहाँ! अपवाद तो सभी विषयों में पाये जाते हैं; परन्तु फूलों में स्वभावतः सुगंधि ही होती है दुर्गन्धि नहीं; ठीक है, परन्तु सब फूल सूंघ कर ही नहीं रह सकते और यह भी तो परीक्षित हो जाना चाहिए कि फूलों में तक्षक नाग तो नहीं छिपा बैठा है। परन्तु दिखलाई यह देता है कि गुप्त जी इन कवियों के सबसे अधिक ऋणी हैं और गुप्त जी की अशोभन रचनाओं में उनके तक्षक नाग फण फैलाए बैठे हैं। साकेत भी इसका अपवाद नहीं। गुप्त जी कवि को उपदेश देने का उपदेश रंग में भंग, जयद्रथ वध तथा भारत-भारती से ही देते चले आ रहे थे। आज भी उनकी यह वृत्ति छूटी नहीं, खुले उपदेश तुलसी ने दिए हैं, प्रेमचन्द ने दिये हैं, किन्तु इस ढंग के उपदेश, उपदेश ही रहेंगे, काव्य-साहित वे तभी बन जाते हैं जब लाक्षणिक व्यंजनाओं की ध्वनियों में भावाधीन होकर लाये जाते हैं। कालिदास, रवीन्द्र, प्रसाद, चन्द्रकुँवर के साहित्य में वे ध्वनि रूप में आये हैं।

४

साकेत खड़ी बोली हिन्दी में दूसरा महाकाव्य कहलाता है। पहले महाकाव्य का श्रेय अयोध्यासिंह जी उपाध्याय के प्रिय-प्रवास को दिया जाता है। उपाध्याय जी ने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में कहा है कि प्रिय-प्रवास खड़ी बोली में है। किन्तु प्रिय-प्रवास की खड़ी बोली ऐसी खड़ी बोली

है जो अपने पाँवों नहीं चल सकती। जिस का काम संस्कृत के वर्णावृत्तों ने, सामासिक पदावली ने तथा युग की आँधी ने चलाया। साकेत में यह दिखलाई देने लगता है कि खड़ी बोली हिन्दी पद्य में अपने आप चलने के लिए, प्रसाद, पंत और निराला की अँगुलियाँ पकड़ने लगी है। उसने 'छवि धारे' को 'धज धारे' बनाना सीखा है तो 'चरित' को 'वृत्त' में बदलना भी दोहा कवित्त आदि हिन्दी के अपने छन्दों को अपनाने की भी उसे चिन्ता है। वह यह भी अनुभव करने लगी है कि निराला, प्रसाद तथा पंत का विरोध करना अब मूर्खता है।

खड़ी बोली का जैसा टूटा-फूटा विकलांग रूप, गुप्त जी के अन्य ग्रन्थों में है उसी का और अधिक कृत्रिम अवांछनीय रूप साकेत में भी मिलता है। गुप्त जी की रचनाओं की भाषा में कहीं भी उतनी सरसता और मधुरता नहीं मिलती जितनी कि महादेवी, पंत, प्रसाद, निराला. बच्चन, दिनकर, चन्द्रकुँवर आदि आधुनिक कवियों या बालमुकुन्द गुप्त, प्रताप नारायण मिश्र की रचनाओं में है तथा ब्रजभाषा के प्राचीन तथा आधुनिक कवियों की कृतियों में मिलती हैं।

खड़ी बोली का आधुनिक आदिकाल संघर्ष में बीता। यह कहा गया कि इसमें माधुर्य नहीं है, किन्तु इस आक्षेप को दूर करने के लिए प्राचीन कवियों ने ब्रजभाषा का सहारा लिया। फिर ऐसा भी दिन आया जिस ने संस्कृत शब्दावली से उसमें सौंदर्य भरना चाहा। पर इन में से कुछ को यह भी ध्यान रहा कि हिन्दी को अपना शुद्ध रूप रखना चाहिए। यह कार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी सरस्वती द्वारा करते रहे। मैथिलीशरण जी को उन्होंने बहुत प्रोत्साहित किया। हिन्दी का यह दुर्भाग्य था कि द्विवेदी जी के प्रोत्साहन से गुप्त जी गद्य की ओर न बढ़ कर, पद्य की ओर बढ़े।

भाषा की सजीव अर्थद्योतिनी शक्ति की हत्या करने वाली शुद्धि का यथाशक्य ध्यान रखना मैथिलीशरण जी की विशेषता है। मुहावरों का शुद्ध रूप न रखने पर भी उनका प्रयोग उन्होंने अलंकारों की सहायता से किया है जैसा दूसरे स्थानों में अच्छे से अच्छे शब्दों में नहीं मिलेगा। एक मुहावरा दूसरे के लिए स्थान बनाता है। दोषों पर पग धूलि डालिए, छाती

सी पौ फटी, हा हा खाऊँ, आँसू पिऊँ, मन मारूँ, ककमार आदि इसके कुछ एक उदाहरण हैं। मुहावरों का अच्छा प्रयोग उपाध्याय जी ने किया है। दोनों के प्रयोग में अन्तर है। उपाध्याय जी में भावुकता इतनी ओछी नहीं जितनी गुप्त जी में है। अपनी ओछी भावुकता को गुप्त जी वक्रोक्ति और उत्प्रेक्षा के इशारों पर नचाते हैं।

प्रसंग के अनुकूल भाषा न रखने का भी ध्यान गुप्त जी को रहता है। युग के छूटते रूप के पीछे चलना, वैज्ञानिक तथ्यों की रक्षा करते हुए अलंकारों का प्रयोग करना, समय के अनुकूल, उपयुक्त बात पर चट से तुक मिला देना जितना अच्छी तरह से गुप्त जी को आता है शायद ही अन्य किसी को आवे। काशी में अभिनन्दन के समय अपने विषय में 'मैं पीछे आने वालों का आगे आगे चलने वाला जै जै कार हूँ; मुझे व्यापार में घाटा हुआ, अपना रोना रोते-रोते देश का रोना रोने लगा' आदि बातें कहकर उन्होंने अपने को केवल एक पीछे आने वाले की खबर देने वाला कह कर झूठी नम्रता दिखलाई है और उन आने वाले को महत्व दिया है। किन्तु वस्तुतः यह विनय मात्र है। गुप्त जी ने प्रसाद, पंत, निराला का विरोध हिन्दू की भूमिका में खुले रूप से किया है। प्रसाद ने उसका मुँहतोड़ उत्तर 'छायावाद' निबन्ध में दिया है।

गुप्त जी को सबसे पहले महत्त्व राष्ट्रीय क्षेत्र में मिला है। बड़े से बड़े नेताओं से अधिक काम इन्होंने किया है। भारत-भारती के बराबर सर्व-प्रिय ग्रन्थ खड़ी बोली में दूसरा नहीं। सरल शैली, हरिगीतिका छंद, और सामयिक चेतना उसकी लोकप्रियता के कारण हैं। वह जागरण का विभ्रमित अल्हैता गान है। हाली १८३७ १९९९ ई० के "मुसद्दस" ने अरब आदि की तान छेड़ी; किन्तु उसी को देख कर गुप्त जी को राजा रामपालसिंह की प्रेरणा से सूझा कि इसको यह चाहिए कि शुद्ध भारतीय भावना का दुरुपयोग करें। हम क्या थे, क्या हैं और क्या होना चाहिए ये प्रश्न भारत भारती में हैं। एक समय उस पुस्तक को रखना ही सन्देहास्पद माना जाता था। इस पुस्तक में गुप्त जी ने अपनी शक्ति का सम्पादन किया है। जयद्रथ वध ओज की दृष्टि से अच्छा है। प्लासी का युद्ध, तिलोत्तमा, अनघ, विरहिणी-व्रजांगना, शकुन्तला,

उमर खैय्याम आदि कुछ अनुवाद भी गुप्त जी ने किये। प्रौढ़ अवस्था के ग्रन्थ यशोधरा, साकेत, द्वापर, कुणालगीत, कावा-कर्बला, नहुष, सिद्धराज अजित आदि हैं। महाभारत तथा सीता बनवास पर भी गुप्त जी ने कुछ लिखा है।

गुप्त जी ने प्रसाद पंत आदि कवियों की शैली अपना कर यह सिद्ध किया कि खड़ी बोली काव्य शैली में इनके अनुकरण की आवश्यकता है।

साकेत में पाठकों का ध्यान सबसे पहले ग्रंथ के नाम की ओर आकर्षित होता है। कवि ने इसे 'साकेत' कहा है। ग्रंथ के कथानक को देखकर रामायण के कथानक की याद आती है। साकेत एक प्रकार से मानस तथा राम चन्द्रिका का अल्हैती सूरसागरीय छाया रूप है। रामचरित का जो गान मानस में किया गया है, रामचन्द्रिका में अलंकारों और छंद का जो चमत्कार दिखाया गया है, सूरसागर में जो गोपी-उद्धव-सम्वाद चित्रित हुआ है उसी का दूसरे रूप में चित्रण साकेत में है, कुछ घटनाएं बढ़ा दी हैं! कुछ अपेक्षाकृत बहुत बढ़ा दी हैं और किसी का इतने संक्षेप में वर्णन है कि उस घटना का गला सा घुट गया है। पर फिर भी राम से संबन्ध रखने वाली घटनाओं का उल्लेख किया है यद्यपि राम के चरित्र की प्रधानता ग्रंथ में कहीं नहीं मानी है। वाल्मीकि और तुलसी की उर्मिला पूरे साकेत में मुख्य स्थान लिये है। ग्रंथ के आरंभ में उसके सरसता से पूर्ण सुखमय जीवन की झलक हम पाते हैं। इस से विरह दशा के लिये वैषम्य की भूमि बनती है। ग्रंथ के मध्य भाग में उसी की दुखमय अवस्था का विस्तृत वर्णन मिलता है। उसी के साथ रह कवि भी चिरकाल तक उसकी पीड़ाओं से झूठी संवेदना प्रकट करता दिखलाई देता है और उसका ध्यान अन्य घटनाओं से हटकर उसी की छाती पर नाचता हुआ दिखलाई पड़ता है। साकेत में जितना वर्णन है वह अयोध्या में केन्द्रित है। यद्यपि उद्देश्य प्रधानतया, जैसा कि गुप्त जी के अल्हैत ने मुख पृष्ठ पर उल्लेख किया है:—

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है,

राम की कथा कहना ही है। फिर भी वह राम के साथ बन को नहीं जाते। आरंभ में अयोध्या नगरी का वर्णन है, पात्रों में पहले पहल लक्ष्मण और उर्मिला दृष्टिगत होते हैं। वे इस बात से आनंदित हैं कि राम का अभिषेक होने जा रहा है। राम का अभिषेक न हो कर उन्हें बन-वास मिलता है। कवि उन्हें चित्रकूट तक पहुंचा आता है और फिर अयोध्या, भरत और शत्रुघ्न का वर्णन करता है। चित्रकूट का वर्णन भी अयोध्या के ही अतर्गत माना जावेगा क्योंकि आगे चलकर भरत, सारी नगरी को लिए हुए रामचन्द्र को मनाने के लिए चित्रकूट पहुँचते हैं।

मानस के रूपान्तरित कथानक को लेकर गुप्त जी ने इसको कुछ ऐसा नाम नहीं दिया जो ग्रंथ की घटनाओं पर प्रकाश डाल सके। न तो नायक ही के नाम पर ग्रंथ का नाम है न कवि के ही नाम पर, और न इस का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से ग्रन्थ के कथानक से ही है। साकेत से केवल अयोध्या नगरी का आभास मिलता है। अयोध्या ही ग्रन्थ की घटनाओं का मुख्य केन्द्र है। इसलिये कवि ने इसका यह नाम उपयुक्त समझा। उर्मिला का विरह-ताप, राम बनवास की घटनाओं का उल्लेख, राज्याभिषेक के लिए सुसज्जित नगरी, राम बनवास, दशरथ मृत्यु से शोकिल नगरी का उल्लेख ही साकेत से मुख्यतः सम्बन्ध रखता है। केवल साकेत नाम से न तो इन घटनाओं के विषय में हमें पूर्ण ज्ञान ही होता है और न साकेत नगरी की दीन-हीन मर्माहत अवस्था का ही कुछ परिचय मिलता है।

प्रिय प्रवास नाम से प्रिय की मथुरा यात्रा का ज्ञान भर नहीं होता, उससे सम्बन्ध रखने वाले अन्य कथा-भागों का भी आभास मिल जाता है। प्रिय के प्रवास से दुखित ब्रजभूमि, दुखिनी ब्रजबालाएँ और उन का विरह चित्र सब सामने आ जाते हैं।

इसी प्रकार यदि इस ग्रंथ का नाम साकेत-संताप, संतप्त साकेत, पीड़िता अयोध्या, विरहिणी उर्मिला रक्खा गया होता तो ग्रन्थ में वर्णित घटनाओं का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त हो जाता और उस नाम की सार्थकता भी सिद्ध होती।

यद्यपि इस ग्रंथ के और भी नाम हो सकते थे जैसे राम-बनवास, राम

बन-गमन, राम-चरित-गान, राम प्रवास, किन्तु इन नामों में न तो कवि की रुचि ही थी न उसमें इस नवीन युग की नवीनता ही रह गई थी। शायद इसी भावना से प्रेरित होकर साकेत नाम रक्खा गया और साकेत को मनुष्य शरीर, अयोध्या और बैकुठ तीनों अर्थों का द्योतक बना दिया गया है। किन्तु जिसने इस ग्रन्थ का कथा भाग कुछ भी न पढ़ा हो वह उसके नाम मात्र को देख कर ग्रन्थ की ओर कदापि आकर्षित नहीं हो सकता। एक प्रकार से इस ग्रंथ की यह भारी त्रुटि है।

साकेत में राम को लेकर पद्य लिखा गया है पर राम को उतना महत्त्व इस ग्रंथ में नही मिला है जितना तुलसी के मानस में। किन्तु फिर भी ग्रंथ का मुख्य भाग तुलसी के मानस से प्रभावित है। साकेत पर राम वाल्मीकि का प्रभाव उतना नहीं पड़ा जितना तुलसी के मानस का। वाल्मीकि ने राम को एक महापुरुष के रूप में चित्रित किया है। उनके राम मनुष्य होते हुए भी दैविक और अलौकिक गुणों से युक्त हैं। उन्होंने मनुष्य जन्म पाकर अपने आचरण में उन अलौकिक गुणों का प्रदर्शन किया है जो कि एक महापुरुष में, महात्मा में पाए जाते हैं अतः उनके राम को हम एक महात्मा, एक महापुरुष कह सकते है जिनमे मानव गुणों का पूरा विकास पाया जाता है। तुलसी की धारणा वाल्मीकि की विचार-धारा से भिन्न है। उनके राम मनुष्य होने पर भी ईश्वर हैं। वे विष्णु के अवतार हैं। एक मात्र लोक कल्याण और संसार के पातकों को दूर करने को वे पृथ्वी पर आये हैं। वे सर्वव्यापक है। सृष्टि के प्रत्येक कण में इनका अस्तित्त्व है। उनकी महती शक्ति है। उनमें पूर्ण मानवत्व और ईश्वरत्व का अद्भुत मिश्रण है। गुप्त जी के राम तुलसी के राम से ही भिन्न हैं पर उनके राम भी निर्गुण निराकार परब्रह्म के साकार रूप में अवतरित होकर पृथ्वी पर लोक कल्याण के निमित्त आए हैं, विश्व में हर स्थान में रमे हुए हैं:—

(१)

"स्वर्ग से भी आज भूतल बढ़ गया,
भाग्य भास्कर उदयगिरि पर चढ़ गया।

हो गया निर्गुण सगुण-आकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है ।
किस लिए यह खेल प्रभु ने है किया !
मनुज बनकर मानवी का पद दिया !
भक्त वात्सल्यता इसी का नाम है,
और वह लोकेश लीला धाम है ।
पथ दिखाने के लिए, संसार को,
दूर करने के लिए भूभार को ।
सफल करने के लिए जिन दृष्टियां,
क्यों न करता वह स्वयं निज सृष्टियां !
असुर शासन शिशिर मय हेमन्त है,
पर निकट ही राम राज्य बसन्त है ।
पापियों का जान लो अब अंत है,
भूमि पर प्रकट अनादि अनंत है ।
राम-सीता धन्य धीराम्बर-इला,
शौर्य—सह संपत्ति, लक्ष्मण-उर्मिला ।
भरत कर्ता, मांडवी उनकी क्रिया,
कीर्ति-सी श्रुत कीर्ति शत्रुघन प्रिया ।
ब्रह्म की हैं चार जैसी मूर्तियाँ,
ठीक वैसी चार माया—मूर्तियां ।
धन्य दशरथ-जनक-पुण्योत्कर्ष है,
धन्य भगवान् भूमि भारतवर्ष है ।

(२)

राम तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं अभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे ।

राम यदि ईश्वर नहीं हैं, सभी कहीं नहीं रमे हुए हैं तब भी उनमें मानवी गुणों का पूर्ण विकास हुआ । मन उनमें रम जाता है । यदि ईश्वर

राम से भिन्न है तो मैथिलीशरण अपने को निरीश्वर घोषित करने के लिए तैय्यार हैं परंतु राम को छोड़ने के लिए नहीं। दूसरे लोग राम को जो चाहें सो मानें; गुप्त जी के लिए वे ईश्वर हैं। उन्होंने उन्हें ईश्वर कहा है किन्तु 'प्रभु' ईश्वर नहीं 'सखा' ईश्वर। तुलसी की भाँति स्थल-स्थल पर यह याद नहीं दिलाई है कि राम सामान्य मनुष्य नहीं परब्रह्म हैं; फिर कार्य भी उनसे वे ही करवाए हैं जो मनुष्य से संभव हैं; थोथे आदर्श जीवन को दृष्टि में रख कर साकेत की रचना हुई। साकेत के राम ऐसे ही आदर्शवादी के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे एक ऐसे कोमल हृदयवान व्यक्ति भी हैं जो कर्तव्य के आने पर कुलिषवत कठोर भी हो सकते हैं। आठवें सर्ग में जहाँ वे अपने को ब्रह्म अवतार होने का संकेत करते हैं वहाँ इस बात की ओर भी उन्होंने दृष्टि को आकर्षित किया है कि वे प्रेमाप्लुत हृदय-वाले मनुष्य भी हैं। सीता के साथ उनकी विनोदमयी वाक्यावली इस बात का विशेष प्रमाण है। रावण के अपने भाई के मरने पर राम ने जो प्रशंसा की है वह इस बात में कोई संदेह नहीं रहने देती कि वह कोमल हृदय वाले थे, किन्तु जहाँ पर कर्तव्य सामने है वहाँ भरत, कैकेई और अयोध्या की सारी प्रजा का आग्रह भी उनको अपने निश्चय से नहीं हटा सका। इसी दृढ़ निश्चयता के कारण वे भू भार को हलका करने में समर्थ हुए हैं।

साकेत लिखने का उद्देश्य, तुलसी के मानस लिखने के उद्देश्य का ही विकृत रूप है। साकेत के राम भी रावण के वध के लिए ही अवतरित हुए हैं और उस कार्य्य की पूर्ति के लिए ही उनकी सब चेष्टाएं हैं। मैथिलीशरण जी का उद्देश्य राम के जीवन में कर्तव्य पालन के लिए कुलिषवत कठोरता का प्रदर्शन करना जान पड़ता है क्योंकि जहाँ और रामायणों में, उत्तर कांड में राज्याभिषेक के साथ कथा-भाग समाप्त होता है वहाँ साकेत में राम का अभिषेक नहीं है; राम की आरती उतारी जा रही है, किन्तु राज्य-प्राप्ति के अवसर पर नहीं, प्रत्युत प्रकृति के एक महान् उद्देश्य की सफलता के अवसर पर। और इसलिए समाप्ति का यह अवसर मैथिलीशरण जी ने यज्ञ माना है जिसमें अपने आप को होम कर राम ने प्रकृति के विभिन्न रूपों द्वारा सम्मान प्राप्त किया है, मानो राज्य एक तुच्छ वस्तु है जो प्रकृति के महत उद्देश्य की पूर्ति के लिए न्योछावर किया जा सकता है इसलिये सोम रस के स्थान पवन-पान आदि हैं।

स्वच्छतर अम्बर में छन कर आ रहा था
स्वादु-मधु-गंध से सुवासित समीर-सोम,
त्यागी प्रेम योग के व्रती वे कृती जाया पती
पान करते थे गल बाँह दिये, आपा होम,
क्षुद्र कास-कुश से लगा कर समुद्र तक,
मेदिनी में किस का था मुदित न रोम-रोम ?
समुदित चन्द्र किरणों का चौंर ढारता था,
आरती उतारता था दिव्य दीपवाला व्योम !

अभिषेक यदि किसी का हुआ है तो उर्मिला का। उस का यह अभिषेक एक प्रकार से अपने पति लक्ष्मण के हृदय के सिंहासन पर हुआ—

चूमता था भूमि तल को अर्द्ध विधु सा भाल,
बिछ रहे थे प्रेम के दृग जाल बन कर बाल,
छत्र-सा फिर उठा था प्राणपति का हाथ,
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ।

वस्तुतः उर्मिला ने अपने जीवन के द्वारा प्रकृति के उद्देश्य को पूर्ण किया। साक्षात् प्रकृति का रूप बनकर जैसे वह स्वय सनाथ हुई उसी प्रकार प्रकृति को भी सनाथ किया।

प्रकृति तू प्रिय की स्मृति मूर्ति है,
जड़ित चेतन की त्रुटि पूर्ति है;
रख सजीव मुझे मन की व्यथा,
कह सखी, कह तू उनकी कथा।

साकेत में सबसे अधिक महत्त्व उर्मिला को दिया गया है। 'उर्मिला' शब्द का अर्थ ही 'तरंगित होने वाली' है। साकेत के आरम्भ में उर्मिला का हृदय संयोग प्रेम की शुद्ध उर्मियों से तरंगित है। लक्ष्मण के अस्तित्व में अपने अस्तित्व को मिला कर वह मानों अपने आपको बिल्कुल भूल रही है। जीवन सुख का प्रवाह मात्र है, जिसकी छोटी-छोटी तरंगें उसके भाव-विलास को और अधिक बढ़ा रही हैं। किन्तु राम बनवास के साथ इन

छोटी उर्मियों का स्थान तूर्ण तरंगों ने ले लिया जो मानो सागर के नल को छूकर आकाश को डुबा देने की धमकी देती हैं। यहाँ से उसके प्रेम का जागरित स्वरूप आरम्भ होता है जिसके विस्तृत वर्णन के लिए कवि ने नवम सर्ग की रचना की है। उसके हृदय के अद्वैलित स्वरूप के सुषमामय दर्शन आठवें सर्ग में सीता की एक आध उक्तियों के द्वारा होते है—

अयि राजहंसि तू तरस तरस क्यों रोती,
तू शुक्ति वंचिता कहीं मैथिली होती।
तो श्यामल तनु के श्रमज-विन्दुमय मोती,
निज व्यजन पक्ष से तू अंकोर सुध खोती।
जिन पर मानस ने पद्म रूप मुँह बाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

२

देवर के शर की अनी बनाकर टाँकी,
मैंने अनुजा की एक मूर्ति है आँकी।
आँसू नयनों में, हँसी वदन पर बाँकी,
काँटे समेटती, फूल छींटती झाँकी!
निज मन्दिर उसने यही कुटीर बनाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

उर्मिला के त्याग का स्मरण करके सीता उसके चित्र की कल्पना करती है। सीता की दृष्टि के साथ सभी पाठकों की सहमति इस सम्बन्ध में हो जाती है कि उर्मिला दुख स्वयं अपनाती (काँटे समेटती) हुई और लोगो को सुख देती (फूल छींटती) हुई अपना जीवन व्यतीत कर रही है। उर्मिला जहाँ अपने ऊपर आपत्तियो का अथाह सागर आता हुआ देखती है वहीं इस बात का भी भान उसे होता है कि इसमें मुझे औरों को भी नहीं बोर देना चाहिए। इसलिए सासों को, बहिनों को, देवर आदि-आदि व्यक्तियों को, उसे दुख करते देख दुख न हो, इस उद्देश्य से वह एकांत उद्यान में चली जाती है। वहाँ जाकर मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों, वनस्पतियों तक को सुख पहुंचाने की बात सोचती है। वह सारे संसार के बदले अपने

आप दुख उठाने को तैय्यार है। इसी भावना में उसका महत्त्व है। राम-बनवास के अवसर पर लक्ष्मण उनके साथ जाने की उत्सुकता जब प्रकट कर रहे थे, उर्मिला तब चाहती तो लक्ष्मण को रोकने का प्रयत्न कर सकती थी। लक्ष्मण उसके आग्रह को न मानकर चले जा सकते थे। उनके रोकने का प्रयत्न करना तो उसके हाथ की बात थी। किन्तु ऐसा प्रयत्न करने की चाह उसके हृदय में उत्पन्न तक इसलिए न हुई कि कर्तव्य मार्ग में अपने पति के लिए वह कंटक स्वरूप होना ही नहीं चाहती थी। कर्तव्य पालन की ओर लक्ष्मण प्रवृत्त रहें, उससे वे विचलित न हों, इस बात को वह स्वप्न में भी नहीं भूलती। स्वप्न में लक्ष्मण को आया हुआ देख कर जो भावना उसके हृदय में उठती है वह लक्ष्मण के प्रति प्रेम की प्रगाढ़ता की न्यूनता के कारण नहीं बल्कि प्रेमालाप के सुख उठाने के साथ-ही-साथ, कर्तव्य पालन की तत्परता में लीन रहने की है। इसीलिए वह प्रेमालाप की चाह होते हुए भी सहसा कह उठती है तुम कर्तव्यको छोड़ कर क्यों आए हो—'जाओ'

भूल अवधि-सुध, प्रिय से कहती, जगती हुई कभी 'आओ'
किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौंक बोलकर 'जाओ'

चित्रकूट में जो स्वरूप है वह क्षण भर में युगों के सुख दुखों को अपने में समेटे हुए है। वह मूक है, मुखर नहीं, नियंत्रित है, स्वच्छन्द नहीं, इसी से वंदनीय है। अन्तिम सर्ग में जो मिलन है वह उस स्थिति का मिलन है यौवन जिसमें पहुंच कर राख की जड़ ढेरियों में बदल गया है, योगियों के शान्त में शृंगार जहाँ बदल चुका है, जहाँ सुन्दरता का स्थान कल्याण ने ले लिया है। सम्भवतः इसी स्थिति की कल्पना के लिए नवम सर्ग की उर्मिला ने एक दिन वेदना के साथ अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हुए कहा था—

१

मिथिला मेरा मूल है, और अयोध्या फूल,
चित्रकूट को क्या कहूँ, रह जाती हूं भूल!

मन में वह, शूल है जो बराबर चुभता रहता है। विवेकिनी हो जाने

पर भी उस की उस वेदना का अन्त नहीं हुआ। आँखों में 'मेरे उपवन के हरिण आज बनचारी' के अवसर की वह छवि भूल ही जाती है—

उन्मादिनी कभी थी, विवेकिनी उर्मिला हुई सखि, अब है,
अज्ञान भला जिसमें सोहें तो क्या, स्वयं अहं भी कब है ?
लाना लाना सखि तूली आँखों में भूली !

वह उस छवि को रेखाओं में अंकित करना चाहती है—

आ अंकित कर उसे दिखाऊँ, इस चिन्ता से निष्कृति पाऊँ,
डरती हूं, फिर भूल न जाऊँ, मैं हूँ भूली भूली,
लाना लाना सखि तूली ।

अपनी ही स्थिति का रंग कल्पनाओं से भरा जा रहा है—

जब जल चुकी विरहिणी बाला, बुझने लगी चिता की ज्वाला,
तब पहुंचा विरही मतवाला, सती-हीन ज्यों शूली,
लाना लाना सखि तूली ।
झुलसा तरु मरमर करता था, झड़ निर्झर झर झर करता था,
उड़ती थी गोधूली लाना लाना सखि तूली ।
ज्यों-ही अश्रु, चिता पर आया, उग अंकुर पत्तों से छाया,
फूल वही वदना कृति लाया, लिपटी लतिका भूली,
लाना लाना सखि तूली ।

लेकिन, दीर्घ काल तक रहने वाली आपत्तियाँ प्रायः शनैः शनैः आती हैं, वे गम्भीर अपार द्वन्दों की भाँति होती हैं, जो अपने वध्य को धीरे-धीरे खेला-खेला कर उस जगह डुबाती हैं, जहाँ से निकलना फिर असम्भव हो जाता है। थोड़े समय तक रहने वाली विपत्तियाँ, पहाड़ी नाली की भाँति मुखर होतीं हैं, मनुष्य पर वे एकाएक टूट पड़ती हैं, किन्तु यदि किसी में उनके पहले आक्रमण को थाम सकने की शक्ति हो, तो वह जल्दी ही पार भी हो जाता है।

दीर्घ विपत्तियां मनुष्य को एकाएक निराश नहीं करतीं। आरम्भिक काल में बहुत दिनों तक मनुष्य उनके बल का या उनकी गहराई का पूरा अनुमान न करने के कारण, उन से लड़ता रहता है, उसे अपनी शक्ति

पर विश्वास रहता है, लेकिन धीरे-धीरे उनकी आशा, उसकी शक्तियाँ और उसके विश्वास क्षीण से क्षीणतर होते जाते हैं; उसके दीपकों को एक-एक कर बुझाती हुई गहरी रात उसके चारों ओर फैल जाती है, अन्धकार में घिरा हुआ प्राणी चिल्ला उठता है 'हाय ! क्या करूँ !'

वह रोता है, तड़पता है, लेकिन दुखों के बन्धन, उसे और बुरी तरह उलझा देते हैं अपनी शक्ति से उसका विश्वास उठ जाता है। मनुष्य के कर्म उस के सुख-दुखों का निर्माण करते हैं, यह ठीक है, लेकिन किस समय उसे सुख मिलना चाहिए और किस इस समय दुख, बात का निर्णय उसके हाथ में नहीं है।

उस समय, उस अपार अन्धकार में, उस ज्योति का, उस शक्ति का, भान होता है जिसके हाथों हमारे भाग्य का निर्माण होता है। लहरों के प्रहारों से जर्जर प्राणी, हाथ-पैर मारना छोड़ देता है। अपने को पूर्ण रूप से उन्हीं लहरों को सौंप देता है जिन्हें उसने दुश्मन की भाँति देखा था; अपने दुख पर रोना छोड़ देता है, और प्रेम तथा श्रद्धा से गदगद कंठ से पुकार उठता है—

१

सिर माथे तेरा यह दान, हे मेरे प्रेरक भगवान् !
अब क्या माँगू भला और मैं फैला कर ये हाथ ?
मुझे भूल कर ही विभु, बन में विचरें, मेरे नाथ !
मुझे न भूले उनका ध्यान, हे मेरे प्रेरक भगवान !
डूब बची लक्ष्मी पानी मे, सती आग में पैठ,
जिये उर्मिला, करे प्रतीक्षा, सहे सभी घर बैठ,
विधि से चलता रहे विधान, हे मेरे प्रेरक भगवान !
दहन दिया तो भला सहन क्या होगा तुझे अदेय ?
प्रभु की इच्छा पूरी हो, जिसमें सबका श्रेय !
यही रुदन है मेरा गान, हे मेरे प्रेरक भगवान !

रुदन ही उर्मिला का गान जब हो गया तभी वह समझ पाई, 'जग में कितने दीन दुखी हैं' तभी वह कह पाई थी—

चातकि मुझको आज ही, हुआ भाव का भान,
वह तो तेरा रुदन था, मैं समझी थी गान !

२

अब जो प्रियतम को पाऊँ,
तो इच्छा है उन चरणों की रज मैं आप रमाऊँ !
आप अवधि बन सकूं कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ,
मैं अपने को आप मिटा कर, जा घर उन को लाऊँ,
ऊषा-सी आई थी जग में, संध्या-सी क्या जाऊँ ?
श्रान्त पवन से वे आवें, मैं सुरभि समान समाऊँ ।

लेकिन इसी तरह रोते रहने से तो जीवन चलता नहीं। न कटने वाली रातें भी, अवधि के दिन गिन कर, तिल तिल काटने ही होते हैं !

अवधि शिला का उर पर था गुरु भार,
तिल-तिल काट रही थी वह दृग-जल धार !

इसी उर्मिला के एकांत दर्शन कर सकने का सौभाग्य लक्ष्मण को प्राप्त हुआ। एक बार चित्रकूट में इसी की पूर्व क्षीण झलक उन्हें मिली थी। उर्मिला से उन्होंने अनुरोध किया था—

बन में तनिक तपस्या करके बनने दो निज योग्य,
भाभी की भगिनी तुम मेरे अर्थ नहीं केवल उपभोग्य ।

उर्मिला की भावना भी कभी इस प्रकार की हुई या नहीं, नहीं जानते। इतना अवश्य है उसने भी रो-धो कर, आँसू, उच्छ्वास, उन्माद-विवेक, ताप-शीत, घाम-वात सहते हुए यह अनुभव कर लिया था कि प्रिय के गौरव का ध्यान धरते हुए उस विरह के उन भारी दिनों के दण्ड-पलों की चोट दैन्य से सह लेना चाहिए जिन के प्रभाव से, उसे अपने यत्नों की ओट दे दे कर बचाती रही।

उसे बहुत थी विरह के एक दण्ड की चोट,
धन्य सखी देती रही निज यत्नों की ओट,

इसीलिये अपनी उस सखी से वह कह रही थी—सखि ! पहिले मैं स्वय भारी थी दिन भारी लगते थे, किन्तु अब मैं क्षीण होते-होते लघु हो रही हूं इसलिए दिन भारी हो रहे हैं। दिनों के भारीपन को भी सह रही हूँ। यह भारीपन, प्रियतम के गौरव के कारण आया है। इस ने प्रियतम के गौरव को बढ़ाया है। दिखलाया है, वे महान् त्याग कर सकते हैं, 'अपि स्व-देहात् किमुतेन्द्रियार्थान यशोधनानाम् हि यशोगरीयः', उनके इस महान् त्याग में मेरा भी गौरव है। दिनों के इस भारीपन पर मैं बलिहारी हूं, इसमें कटुता अवश्य है, किन्तु मधुर स्मृति की मिठास और गौरव लाभ का वरदान भी विद्यमान है, इसलिए मुझे यह खलता नहीं। मैं इसे प्रिय के वरदान के रूप में समझ कर सिर माथे लेती हूं, इसका स्वागत करती हूँ—

प्रियतम के गौरव ने लघुता दी है मुझे रहें दिन भारी,
सखि इस कटुता में भी मधुर स्मृति की मिठास मैं बलिहारी !

उर्मिला को जब अपने जीवन-प्रभात के वे दिन याद आये थे जब उसकी प्रेम दृष्टि की आंख खुली थी जब उसने भूमि के पात पात में हृद्गति हेरी थी; जब जीवन में शान्ति क्लान्ति लाने वाला मध्यान्ह उसे खेद और प्रस्वेद-पूर्ण ताप देकर विकल कर गया। जब जीवन की संध्या की लाली के बाद अंधकार की कल्पना से, कोक-शोक की भावना से वह काँप उठी थी तब ही उसे सखि ने धैर्य्य बँधाया कि रात में चन्द्रोदय भी होता है, कोक शोक की रखवाली यदि तारे करते हैं तो फिर प्रभात भी होता है और सच-मुच ही जब यह भूमि अभग चौदह चक्कर खा चुकी तब ही वह प्रभात आया जब पैरों पड़ती उर्मिला लक्ष्मण के हाथों पर थी और सखी का पता न था जब 'प्रिय जीवन की कहाँ आज वह चढ़ती बेला' उर्मिला की देह लता रह रह कर काँप रही थी। कपोलों पर रह रह कर अश्रु टपक रहे थे और लक्ष्मण उसे स्नेह-सिंचित स्वरों में उसकी तपस्या का वरदान उसे दे रहे थे—

•

वह वर्षा की बाढ़, गई, उसको जाने दो
शुचि गम्भीरता प्रिये, शरद की यह आने दो,
धरा-धाम को राम-राज्य की जय गाने दो,
लाता है जो समय, प्रेम-पूर्वक, लाने दो,

तुम सुनो, सदैव समीप है जो अपना आराध्य है
आओ, हम साधें शक्ति भर, जो जीवन का साध्य है
अलक्ष की बात अलक्ष जानें, समक्ष को ही हम क्यों न मानें ?
रहे वही प्लावित प्रीति-धारा, आदर्श ही ईश्वर है हमारा।

गुप्त जी इन स्वरों के सहारे महावीरी सूचना दे रहे थे कि रीति-प्रवाह के शृंगार का युग गया। उद्दाम यौवन का वह वर्षा कालीन वेग हमें नहीं चाहिए, न भक्ति कालीन ईश्वर की आवश्यकता है। अपना युग ही हमारे लिए सब कुछ है। उसमें गाँधी है, अपने पतियों को यौवनकाल में ही देश के स्वतंत्रता आंदोलन में भेज देने वाली नारियाँ हैं। जिनके पति स्वेच्छा से चले जा रहे हैं ऐसी नव-विवाहिता वधुएँ भी हैं। यौवन की यातनाएँ उन्हें सहनी पड़ती हैं, किन्तु यश-गौरव का जो महान् कार्य उनके पति कर रहे हैं वह समस्त देश के साथ ही साथ उनके लिए भी गौरव-गर्व की शरद रितु की शुचि गम्भीरता के समान है। इस युग में कर्तव्य का आदर्श ही हमारा ईश्वर रहे, काल्पनिक ईश्वर की हमें आवश्यकता नहीं।

लक्ष्मण और उर्मिला दो ऐसे प्रधान पात्र हैं जिन पर साकेतकार की विशेष कृपा हुई है। इसी कृपा के कारण पञ्चवटी और साकेत हमारे सामने आते हैं। उर्मिला तो अपने प्राणों के अभाव में भी एक प्रकार से नायिका का स्थान लिये है। जिस उर्मिला को हम मानस में एक ऐसी पति-परायण सती साध्वी के रूप में देखते हैं जो अपने हृदय की भावनाओं को अपने हृदय के भीतर ही छिपा कर अयोध्या के राजमहलों में चौदह वर्ष तक पति-वियोग चुपचाप सहती रहती है, और जिसके मुँह से अपनी व्यथा की एक आह भी कभी नहीं निकलती, उस की मूक-वेदना, उसका मौन-विरह इतना अधिक मुखर हो गया है कि ग्रंथ के दो सर्ग उस से ही परिपूर्ण हैं। गम्भीर प्रेम के प्राणों से रहित ये दोनों सर्ग ही साकेत के प्राण हैं। गम्भीर प्रेम के विषय में संस्कृत के कवियों ने जो बात कही है वह है गम्भीर प्रेम हृदय-मन्दिर में दिपने वाला दिव्य दीप है, हृदय से बाहर लाए जाने पर वह या तो क्षीण हो जाता है या बुझ ही जाता है। उर्मिला की वेदना समझने वाले प्रेमी हृदय रवीन्द्रनाथ ने भी अत्यन्त सुन्दर शब्दों कहा है—अव्यक्त प्रेम पवित्र है। मूक-हृदय-मन्दिर में वह मणि की ज्योति की

भाँति जगमगाता है। मुखरित दोपहरी में वह हत्प्रभ-निस्तेज-दयनीय रूप ले लेता है—"Love unexpressed is sacred. It shines like a bright gem in the hidden treasure of heart. In the bright day light of exposit ition looks pittyfully dark" उर्मिला की मूक विरह-वेदना को मुखर बना देने में गुप्त जी ने अपनी शक्ति और कौशल का प्रदर्शन किया है। साकेत के बीच के कुछ अंशों को छोड़ कर, पहिले सर्ग से लेकर अन्तिम सर्ग तक, उर्मिला की प्रेत छाया विद्यमान है। 'छाया जाया राम की' केशव का रावण हर ले गया था। किन्तु उर्मिला की प्रेत छाया का हरण, विरहाधिनाथ रवीन्द्रनाथ ने किया। पंचवटी के लक्ष्मण तथा शूर्पणखा के रूप में आधुनिक युग के प्रेतों ने युग की मुग्ध हवाओं ने, सिन्धु पार के व्यापारियों ने, और बुन्देलखण्ड के बीहड़ पर्वतों ने? उस अपहरित का ही चौमासा लिखा है।

साकेत की उर्मिला एक प्रोषित पतिका के रूप में हमारे सामने आती है। लक्ष्मण से वियुक्त उर्मिला उन्हीं दशाओं में ढकेली गई है जिन दशाओं में केशव, बिहारी, देव, मतिराम आदि की नायिकाएँ कभी रही थीं।

वियोग की जितनी दशाओं का वर्णन साहित्यकारों ने किया है उनमें से बहुत सी दशाएँ, उर्मिला में मिलती हैं। उस में लक्ष्मण से मिलने की अभिलाषा है, आतुरता है, उत्कण्ठा है, लक्ष्मण के अभाव से उस का हृदय चिन्ता मग्न है। वह विरह से संतप्त है। उस का विरह-कृष गात इतना तप्त है कि उस के संसर्ग से शीतल पवन भी लू में परिवर्तन हो सकती है। नैश गगन में वह अपने दिन के फफोले पड़े देखती है। अपने सुखमय दिनों की स्मृति उस के हृदय में कभी तो शान्ति ला देती है और कभी अशान्ति उत्पन्न कर देती है। रितुएँ उसकी भावनाओं को उद्दीप्त करने आती हैं। उस की विप्रलंभ रति, साधारण नायिकाओं की रति भावना के समान तीव्र होकर उसे विकल कर देती है। प्रलाप और उन्माद की दशाएँ उस में चित्र बन जाती हैं। विरह के उन्माद में रह कर भी वह अधिकांश अवसरों पर अपना धैर्य्य धरे रहती है। हर बात में उसकी तर्क बुद्धि ही अधिक काम करती है। कभी वह अपने मन को यह कह कर सन्तुष्ट करती

है कि इस दुख के बाद मेरे भी सुख के दिन आवेंगे ही। विरहोन्माद में यदि वह अविवेकिनी बन जाती है तो उन्माद के उतर जाने पर, लक्ष्मण के निमित्त नाना प्रकार की प्रार्थनाएँ करती है। अपने जीवन में पति को ही सर्वस्व मानती है। अपने जीवन के सभी व्यापार पति के निमित्त ही करती है। अपने सिन्दूर-विन्दु पर उसे गर्व है। प्रसाद के अजात शत्रु की मल्लिका की तरह उस की भी धारणा है, पति केवल शृंगार की मंजूषा में बंद रखने की वस्तु नहीं। कर्तव्य में भाग लेकर, सामाजिक जीवन में गौरव प्राप्त करने में दंपति जीवन की एक सार्थकता है। काम को सिन्दूर बिन्दु से दग्ध करने की चुनौती वह देती है और अपनी चरण धूलि से रति के मुख को धूलिमय बनाने का उपदेश काम को देती है। यदि तुम्हारी चरण धूलि से ही रति का मुख उज्ज्वल न हो तो मैं अपनी चरण धूलि भी दे सकती हूं, तुम इसे ले जा सकते हो, अपन रति को इसे देना। उस का मुख उज्वल हो जावेगा। वे संयोगिनी होत हैं जो तुम्हारी कामना करती हैं। मैं पति-परायणा वियोगिनी हूं। वसंत के सखा बन तुम मुझे विकल कर सक होते किन्तु पथच्युत नहीं कर सकते।

साकेत की उर्मिला को ललित कलाओं का भी ज्ञान है (मैथिली शरण भी तो कलानिधि का सपादन करते हैं) चित्र उन्होंने कभी बनाए हों न बनाए हों किन्तु चित्रकार वह माने ही जाने चाहिएँ (कलानिधि का संपादन मैथिलीशरण जी ने किया हो न किया हो किन्तु वे उसके संपादक अवश्य हैं) गुप्त जी में सत्यता है, उर्मिला में क्यों न होगी ! (कलानिधि गुप्त जी के मनोरंजन और मन बहलाव का साधन है) नाना प्रकार को कलाएँ साकेत की उर्मिला के लिए (भी) नाना प्रकार की कलाओं की बातें मनोरंजन तथा मन बहलाव की साधन बन जाती हैं।

राज-पुत्री और राजवधू होने पर भी उस का उदार हृदय दरिद्रों और किसानों के प्रति उदार होने की शक्ति रखता है। धन के प्रति उस को विशेष घृणा है (गुप्त जी को क्यों न हो !)। इस कारण नहीं कि उसके द्वारा राम को बनवास हुआ बल्कि वह उस को सब अनर्थों का मूल कारण समझती है। उसने इस बात का अनुभव कर लिया है कि सच्ची शान्ति

धन द्वारा प्राप्त नहीं होती (और गुप्त जी की पुस्तकें आज भी चिरगाँव झाँसी से बिकती चली जा रही हैं) परन्तु वास्तविक शान्ति का साधन प्रेम है (किस से ? मनुष्य से या हिन्दुओं के एक संकीर्ण घेरे भर से ? और वह भी सच्चा या दिखाने भर का ?) गुप्त जी को अपने वर्ण्य विषय से ही प्रेम नहीं, जी भर कर वे अपने साहित्य के विषयों को ही प्रेम न कर सके; करते तो उन में तन्मयता होती) । धन के प्रति उर्मिला के मन में ऐसी घृणा का होना स्वाभाविक है, क्योंकि उस के दुख का प्रधान कारण धन राज्य द्वारा लाई हुई आपत्ति ही है । इस विचार को नवम सर्ग में अनेक स्थलों पर व्यक्त किया गया है ।

वियोगिनी उर्मिला कभी रोती, कभी गाती, कभी पूर्व स्थिति की तुलना विद्यमान स्थिति से कर, पीड़ा अनुभव करती दिखाई गई है और उस के अधिकांश चित्र इस प्रकार सामने आते हैं जैसे रंगमंच पर कोई पात्र इन स्थितियों का अभिनय कर रहा हो और स्वयं इनमें से एक को भी सफलता के साथ व्यक्त न कर पा रहा हो तो पीछे से सूत्रधार ही तीव्र स्वर से कह दे रहा हो वह, "रो रही है; वह समदुखिनियों को बुला रही है" इत्यादि ।

इन भावनाओं के चित्रण में कहीं-कहीं नवीन कवियों की शैली का असफल अनुकरण भी किया गया है; किन्तु अधिकांश चित्र प्राचीन परिपाटी के सहारे ही अंकित किए गए हैं । ये चित्र ही नही एक प्रकार से सम्पूर्ण साकेत, प्राचीन परम्परा का जीता जागता रूप है । और इस रूप में वह अपने से आगे के समय का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता । कई स्थलों पर उर्मिला, बिहारी, केशव आलि कवियों की नायिका बन गई है, अन्तर इतना ही है कि साकेत में उसका अपना भी कुछ व्यक्तित्व है, चाहे वह कितना ही सीमित—संकुचित क्यों न हो ।

उर्मिला के जीवन का संयोग पक्ष भी हमारे सामने आता है । गुप्त जी विरह भावना के कवि नहीं हैं । उन्मुक्त प्रेम जो जितने तीव्र रूप में कर सकता है वह उतने ही तीव्र रूप से विरह का भी अनुभव कर पाता है । गुप्त जी उन्मुक्त प्रेम के कवि नहीं हैं, इसलिए विरह भावना के भी कवि वे नहीं रह जाते । और जब यह बात मूल चेतना में ही नहीं तब उनके पात्र

भी संयोगावस्था के स्थूल सौन्दर्य के चुलबुले रूप में ही अधिक खिलते हैं इसी से उर्मिला, लक्ष्मण, सीता-राम आदि साकेत में चाहे हों चाहें पंचवटी में विनोदशील रूप में ही अपनी रसिकता का पता देते हैं।

स्वभाव से चंचल होने पर भी उर्मिला में स्त्री जनोचित कार्य करने तथा भाव प्रकाशन की शक्ति है। किन्तु उसमें रघुकुल वधू की गंभीरता नहीं;

मानस मंदिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती थी विरह में बनी आरती आप,

चौदह वर्ष तक इस प्रकार की आरती नित्य उतारनेवाली साध्वी तपस्विनी अपनी तपस्या सिद्धि के अवसर पर कहती है—

वह उन्माद कहां से लाऊँ,
वह खोया धन आज कहाँ सखि पाऊँ !
खोई हाय कहाँ वह खिल खिल खेला,
प्रिय जीवन की कहां आज वह चढ़ती बेला,

जिससे यही विदित होता था तपस्या उसके आकांक्षाओं को झुलसा कर भी परिष्कृत कर दे सकी।

कैकई का चित्र हमारे नेत्रों में चिर काल से बसा है, हमारा हृदय उसके मत्थे मढ़ी गई कुटिलता से सदैव से परिचित है। जो कुटिल कृत्य कैकेई ने मानस में किये, उन्हीं को करने वाली वह साकेत में भी है। तुलसी ने सरस्वती द्वारा उसकी मति फेर देने की जो कल्पना की है उससे कैकेई के गिरते हुए चरित्र को बहुत कुछ बचा लिया है। उसकी ग्लानि, उसकी वेदना असीम सागरों को समेटे है। चित्रकूट में वह यम की याचना करती है। चाहती है पृथ्वी फटे और वह उसने समा जावे। लंका से लौटने पर राम उस से पहले मिलना सबसे आवश्यक समझते हैं। गीतावली के भरत ने भूल कर भी कभी उससे—जब तक वह जीती रही—फिर कभी कटु बचन न कहे।

गुप्त जी ने कैकेई के चरित्र को सुधारने की बहुत कुछ चेष्टा की है। उसमें मानव स्वभाव का वास्तविक चित्र दिखाया गया है। वह पुत्र प्रेम के वशीभूत होकर एक भारी अपराध कर बैठती है। अपने पुत्र की मगल कामना करने वाली इस कैकेई का प्रधान लक्ष्य भविष्य के चिर सुख की रक्षा करना है। मंथरा के द्वारा सिखाए पढ़ाए जाने पर भी उसके हृदय में ये विचार प्रधान बने रहते हैं। भरत के न बुलाए जाने पर उसकी शका और दृढ़ हो जाती है पर जिस समय भरत से तिरस्कार पा वह तरह तरह दोषारोपणों को सुनाती है उस समय उसको जो दुख होता है, जो मानसिक क्लेश वह अनुभव करती है वह अत्यंत दयनीय तथा करुण है।

कैकेई के चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता दिखाई गई है। अपने कृत्य पर पश्चताप करके वह मानव हृदय का परिचय देती है। मानस कुछ तथा रामायण की कैकेई की अपेक्षा, साकेत की कैकेई, पाठकों की अधिक सहानुभूति प्राप्त करती है। उसका कलंक भी इस पश्चाताप से बहुत कुछ धुल जाता है। अपने अतुलित कुल में प्रकट हुआ था कलंक जो काला, वह उस कुल-बाला के अश्रु सलिल से समस्त धो डाला। ये उक्तियाँ जितनी ठीक कैकेई के विषय में उतरती हैं उर्मिला के विषय में उतनी नहीं। सूर्य्य कुल में जो काला कलंक दशरथ के कृत्यों से उत्पन्न हुआ था उसे कैकेई ने अपने पश्चाताप के आँसुओं से धो दिया।

संसार-चक्र अपनी सनातन चाल से चला जा रहा था। पूर्व दिशा में सूर्य्य प्रतिदिन नियमानुसार उदित होते और सध्य-रश्मियों से संसार को लालिमा में डुबो कर अस्त हो जाते थे। फिर वही विरह विधुरा, मलिन-वसना रजनी आती थी, समस्त संसार सुख की निद्रा मे मग्न हो जाता था। परन्तु जैसे इन सब का अयोध्या पर कुछ प्रभाव ही नही होता। वहाँ तो मनुष्य यंत्र के समान भावना शून्य, हृदय-शून्य हो कर नियति के न रुकने वाले कार्यों को कर रहे थे। एक अनन्त अपूर्णता तथा उदासीनता, उन्हें चारों ओर से घेरे थी। केवल दूरस्थित एक प्रकाश रेखा थी जिस पर दृष्टि लगाये वे उस कठिन पथ पर क्लान्त पथिक की भाँति अग्रसर हो रहे थे।

और फिर भरत, जिस त्यागी विरागी के लिये इन समस्त कष्टों तथा

विपत्तियों के घन, अयोध्याकाश में छाये हुए थे, उनकी क्या दशा थी ?

राम विरह की असह्य वेदना में भरत अपने प्राण ही त्याग देते किन्तु उन्हें विश्व के सम्मुख अपने चरित्र की निष्कलंकता सिद्ध करने की आवश्यकता प्रतीत होती थी। इसी आवश्यकता ने उन्हें अयोध्या के सारे ऐश्वर्य्य वैभव को त्याग कर नंदी ग्राम में तपस्वी जीवन बिताने को बाध्य किया।

साकेत में भरत का अधिकांश चरित, रामचरित-मानस के अनुकूल ही है। किन्तु उसका विकास उतने व्यापक रूप में नहीं हुआ जितने व्यापक रूप में वह मानस में हैं। मानस के चित्रकूट में राम-भरत के मिलाप के अवसर पर भरत की जो भावना सम्मुख आती है वह साकेत में कहाँ! साकेत के चित्रकूट में अधिकतर समय वाद-विवाद मेंनष्ट हो जाता है।

चित्रकूट की यात्रा का वर्णन भी मानस में विस्तार से है। साकेत में वह संक्षिप्त रूप में आया है। इससे भरत के चरित्र का बहुत कुछ भाग अविकसित ही रह जाता है। कुछ देर के लिये चित्रकूट में उन्हें हम देखते हैं, जहाँ वे राम से लौटने की प्रार्थना करते हैं; फिर ग्यारहवें सर्ग के आरंभ में उनके दर्शन होते हैं। ग्यारहवें सर्ग में उनकी उस साधना का पता अवश्य चलता है, जिसे वे राम से विदा होकर, राज्य प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी नंदी ग्राम के तपस्वी के रूप में कर रहे थे। उनकी जो मूर्ति यहाँ अंकित की है, उसी के आधार पर हम उनकी समस्त भावनाओं का अनुमान कर सकते हैं। साथ ही उनके दाम्पत्य जीवन की कुछ झलक भी हमें यहाँ मिल जाती है।

भरत की सेवा में निमग्न, मांडवी अपना जीवन धन्य समझती है। एक बार मांडवी से यह सुनकर कि 'माताओं को किसी प्रकार खाना खिला दिया गाय, पर बहिन उर्मिला ने आज कुछ भी न खाया, भरत अत्यन्त दुखित हो जाते हैं। भोजन नहीं करते और व्यक्ति होकर पृथ्वी फट जाने की चाह करने लगते हैं:—

हाय ! एक मेरे पीछे ही हुआ यहाँ इतना उत्पात !
एक न मैं होता तो भव की क्या असंख्यता घट जाती ?
छाती नहीं फटी यदि मेरी, तो धरती ही फट जाती !

तब अपने पति के निष्कलंक साधु चरित्र तथा भ्रातृ प्रेम को पहिचानने वाली मांडवी कहती है—

मेरे नाथ, जहाँ तुम होते दासी वहीं सुखी होती,
किन्तु विश्व की भ्रातृ भावना यहाँ निराश्रित रोती,
सुख तो सभी भोग लेते हैं, दुख धीर ही सहते,
मनुज दुग्ध से, दनुज रुधिर से, अमर सुधा से जीते हैं,
किन्तु हलाहल भवसागर का, शिव शंकर ही पीते हैं !

मांडवी जिस का अस्तित्व मानस में प्रायः लुप्त-सा है, साकेत में अपने व्यक्तित्व को प्रदर्शित करती है। उसमें अपने पति के अनुरूप असीम सहनशालता है, त्याग, उदारता, आदि गुण हैं। उसके विचार भरत के विचारों के ही अनुकूल हैं। भरत से वह किसी भी अंश में पीछे नहीं। भरत जिस प्रसन्नता से चौदह वर्ष काटते हैं, उसी से मांडवी भी अपना जीवन बिताती है। अपने स्वामी के प्रति उसमें असीम श्रद्धा भक्ति है। उनके गुणों पर वह विशेष मुग्ध है। उसके असीम हृदय की भावनाओं का पता उस समय हम पाते हैं जब वह भरत के गुणों का गान करती है, और साथ ही अपने दाम्पत्य जीवन की एक छोटी सी कल्पना भी सामने लाती है। उसके हृदय की भावनाओं को यद्यपि सीमित स्थान मिला है पर इतने से ही उसके चरित्र पर कुछ प्रकाश पड़ गया है। रवीन्द्रनाथ और द्विवेदी जी ने मांडवी को विशेष रूप से बलवती यदि किया होता तो गुप्त जी भी मांडवी-तपस्या ही लिखते। मांडवी की वेदना, उर्मिला की वेदना से भी अधिक काव्योपयोगी है। उर्मिला का दुख लक्ष्मण के अभाव के कारण था, मांडवी को यह सुख अवश्य था कि भरत उसके सम्मुख हैं, वह उनकी सेवा कर पा रही है, किन्तु यह दुख कितना विषम है कि दोनों साथ रहते हुए भी यतियों का-सा जीवन बिता रहे हैं। पुष्प धन्वा ने उर्मिला को पति के अभाव में विकल किया, विकलता को उसने विवेक से दबाया; मांडवी को पति के सम्मुख रहते हुए भी उसे दबाना पड़ा, उसकी यह वेदना, यह तपस्या, उर्मिला की वेदना को धूमिल नहीं बना देती है ? रवीन्द्रनाथ ने इस पर विचार नहीं किया था, इसलिए द्विवेदी जी ने भी नहीं किया, द्विवेदी जी ने विचार नहीं किया था इसलिए गुप्त जी को भी क्या पड़ी थी जो इस पर विचार

करते। साकेत की मांडवी, भरत की सच्ची सहचरी, सच्ची तपस्विनी है।

श्रुतकीर्ति की झलक भी साकेत में मानस की अपेक्षा विशेष है; पर परिवर्तन नहीं पाया जाता। शत्रुघ्न के स्वभाव में साकेत में मानस की अपेक्षा कुछ गंभीरता आई है। साकेत के शत्रुघ्न बड़ी धीरता के साथ, राज्य के संचालन में लिप्त रहते हैं और उनकी पत्नी भी अपनी बहिनों के समान ही जीवन बिताने वाली दिखाई गई है।

किन्तु इन दो पात्रों के चरित्र के प्रति गुप्त जी के हृदय में कोई विशेष आकर्षण नहीं। फिर चरित्र विकास के लिए यहाँ विशेष अवसर भी न था।

वाल्मीकि रामायण में लक्ष्मण उग्र स्वभाव के हैं। मानस में उद्धत स्वभाव के। साकेत में पहुंच कर वे उच्छृङ्खल दुशील स्वभाव के धूमकेतु बन गये हैं। जब जी में जो आया वे कह देते हैं। बड़ों के सम्मुख भी मनमानी कहने में उन्हें संकोच नहीं होता। कैकेई को 'नागिनी' 'सांपिनी' 'अनार्या की जनी', 'हत-भागिनी' आदि अपशब्दों से जितनी तीव्रता से वे विभूषित कर सकते हैं उतनी ही तीव्रता से दशरथ को भी 'दस्युजा के दास' कह सकते हैं। राम के प्रति उनका प्रेम उसी भाँति का दिखलाया गया है जिस भांति का प्रेम पंडित जवाहरलाल नेहरू को गांधी जी के प्रति था। किन्तु प्रयत्न करने पर भी साकेत के राम, गांधी न बन पाए और लक्ष्मण भी जवाहरलाल बनते बनते बिगड़ गये। फिर भी साकेत के लक्ष्मण के उच्छृङ्खल स्वभाव को देखने का अवसर आन्दोलन के जवाहरलाल जी को ही मिल पाता तो वे गुप्त जी के शेषावतार लक्ष्मण से अवश्य हार मान लेते।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से साकेत अत्यंत साधारण कोटि की रचना है, कथा-प्रवाह की कमी को इसका एक कारण मान सकते हैं किन्तु उससे भी अधिक प्रबल कारण यह है कि साकेत के रचयिता में महान् चरित्रों की सृष्टि कर सकने वाली शक्ति का अभाव है। रचयिता के जीवन में महान् चरित्र साकार कल्पना बन कर जब तक नहीं आ जाते तब तक उसके साहित्यक प्रयासों में भी महान् चरित्रों का सृजन नहीं होता। आदर्श मात्र ही से महान् चरित्रों को नहीं बनाया जा सकता। उन आदर्शों की आंतरिक अनुभूति के साथ उन्हें कार्यान्वित कर सकने

वाली सुसबद्ध चेतना शक्ति की, वाणी की भी उतनी ही आवश्यकता होती है। इन दोनों के अभाव में कोई रचना बाहरी सब लक्षणों के होते हुए भी महान नहीं कही जा सकती। इसी साहित्यिक दृष्टि से साकेत में महाकाव्य के प्राण-विधान नहीं हैं, लक्ष्य सिद्धान्त चाहे हों।

कर्त्तव्य ही ईश्वर है। समझ जो कुछ है, वही सब कुछ है। इस सदेश को जनता तक पहुंचाने के लिये साकेत की रचना हुई है। किन्तु साकेत में कथांश जितना भी है उतना भी प्रबन्ध शैली के उपयुक्त नहीं है। राम के बनवास चले जाने से लेकर वापस लौट आने तक के तेरह-चौदह वर्षों तक उर्मिला ने दुख सहा, भरत-मांडवी मे तपस्या की; दशरथ की मृत्यु हुई, रानियों ने दुख सहा, बन में लक्ष्मण यती की तरह रहे, सीता ने पचवटी के वृक्ष सींचे, खुरपा चलाई, सूत काता, बन वासियों को अर्थ-शास्त्र, नीति-शास्त्र के उपदेश दिये, गांधा-गीता पढ़ाई, भरत के साथ अयोध्यावासी भी चित्रकूट गए। उर्मिला से लक्ष्मण मिले, भरत कैकेई ने पश्चाताप किया, लंका में लक्ष्मण को शक्ति लगी। हनुमान को अयोध्या में संजीवनी मिली। अयोध्यावासियों को दिव्य-दृष्टि देकर वसिष्ठ ने लंका का युद्ध दिखलाया, शेष कथा हनुमान ने सुनाई, भरत के बाण पर बैठ कर हनुमान लंका गये, श्रुतकीर्ति-शत्रुघ्न-सुमित्रा ने युद्ध में सहायता भेजने की चिन्ता की। इन सब को एक साथ गुथ देने से जो जमघट तैयार होता है, वह न तो व्यवस्थित राम-कथा ही है, न उर्मिला-कथा ही। वह एक कथा है ही नहीं, और अगर है तो ऐसे रूप में नहीं जो प्रबध शैली में सूत्र का काम दे सके। 'उर्मिला' से आरम्भ हुई रचना बाद को 'साकेत' बनी। इसलिए कथा-धारा का एक रूपता लक्ष्य-सिद्धि के लिए कथा चुनने की अनस्थिर प्रवृत्ति में है। राम कथा को प्रधानता न देने से साकेत भी प्रबन्ध-काव्य न रह सका। मुक्तक-खण्डों का सकलन हो गया। उर्मिला की कथा अत्यंत लघु है—नव विवाहिता के दिन हास-विलास में बीत रहे थे। राम को बनवास हुआ, लक्ष्मण भी उनके साथ बन चल दिये। चौदह वर्ष तक उर्मिला विरह में झुलसती रही। इस बीच ही यौवन बीत चला, अवधि समाप्त होने पर लक्ष्मण से मिलन हुआ। इस लघु कथा में द्रुत-गति से आगे बढ़ने वाली घटनाएँ नहीं हैं, जिनका सृजन सांस्कृतिक

जीवन की रक्षा के लिये जीवन से संघर्ष करने के कारण उर्मिला द्वारा स्वयं हुआ हो।

उर्मिला की छोटी-सी कथा को बारह सर्गों में फैलाने का विफल प्रयत्न हुआ है। कथा नहीं फैल पाई तो सर्गों में राम-कथा को भर दिया। 'माल में घाटा हुआ तो अपना रोना रोते-रोते देश का रोना रोने लगे।' तीसरा ब्याह हुआ तो नववधुओं के साथ की रंगरेलियों ने लक्ष्मण से सुग्गे पढ़वाये। महायुद्ध शुरू हुआ तो उर्मिला जगी, नया आल्हा साकेत गाया। अब तक 'रंग में भंग' १६०८ ई०, 'जयद्रथवध' १६१० ई०, 'भारत-भारती' १६१२, ये तीन आल्हे गाये जा चुके थे। १६१३ में रवीन्द्रनाथ ने गीतांजलि पर नोबल पुरस्कार भी प्राप्त कर लिया था।

साकेत के पहिले सर्ग में वाणी-वदना, साकेत-वर्णन, राजप्रासादों में उर्मिला के दर्शन, उर्मिला-छवि-वर्णन, लक्ष्मण-उर्मिला विनोद की उक्ति-प्रत्युक्ति आदि हैं। दूसरे में मंथरा-कैकेई-दशरथ हैं, तीसरे में राम-वनवास पर फणी फूत्कार, चौथे में कौशल्या का औदार्य-वात्सल्य, सुमित्रा की उदारता, उर्मिला की वियोग गाथा आती है। पांचवें में वन-प्रस्थान, गुह-मिलन, ग्राम-वधू, गंगा-वर्णन हैं। छठे में दशरथ-मृत्यु, उर्मिला-विरह, सुमन-प्रत्यागमन, वसिष्ठ-उपदेश, भरत को बुलवाया जाना वर्णित हैं। सातवें में साकेत-दशा, भरत-कैकेई-संभाषण, दशरथ-शव-दाह आदि हैं। इसके आरम्भ में भास का स्मरण किया है। आठवें चित्रकूट में राम-सीता जीवन-गीत, भरत-मिलन, सभा-प्रस्ताव, अनुमोदन-समर्थन, कैकेई-परिताप, उर्मिला-लक्ष्मण मिलन है। नवम में उर्मिला विरह वर्णन है। दशम में उर्मिला-वियोग-व्यथा है। ग्यारहवें में नन्दी-ग्राम में भरत के दर्शन, सेवा-लग्ना मांडवी, भरत से हनुमान का संजीवनी पाना, व्यापारी तथा हनुमान द्वारा राम-कथा वर्णन, अयोध्या-दशा-वर्णन है। बारहवें में युद्ध क्षेत्र में जाने के लिये, शत्रुघ्न का उन्मेष, भरत का योग माया द्वारा, राम-रावण-युद्ध (महाभारत के संजय की तरह) दिखाया जाना, राम-विजय की सूचना दे सान्त्वना आदि देना है। उर्मिला में वीर भावना का उन्मेष, उर्मिला की खिन्नता, उर्मिला-लक्ष्मण मिलन और आरती वर्णित हैं।

साकेत में कथा-धारा कम है। घटनायें द्रुत-गति से घटित होती नहीं

दिखाई देती हैं, विशेष कथा का जो अंश हैं उसके लिये काव्य लिखा नहीं गया है। उप अंश से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन सीधे रूप में न होकर केवल संक्षिप्त रूप में प्रकारान्तर से किया गया है, किन्तु ऐसे स्थल भी हैं जिनमें मन कुछ देर के लिए रम जाता है। उर्मिला के रूपकमय अभिषेक का वर्णन, दशरथ की वह दशा जिसमें वे, राम और कैकई के मध्य, सत्य और मृत्यु के बीच अडिग रहते हैं, तथा सुमंत-राम-लक्ष्मण-वार्तालाप, वृक्ष सींचती गाती सीता को देखते राम का सीता-नख-सिख सराहना-चित्रण, चित्रकूट-में. लक्ष्मण-उर्मिला-मिलन, नवम सर्ग के चुने हुए स्थल और द्वादश सर्ग में उर्मिला-लक्ष्मण मिलन, ये ही साकेत के सुमन हैं जिनकी गिनती मार्मिक स्थलों में अंतर्गत की जा सकती है। एक ही भाव का बहुत दूर तक दुहराव नवम सर्ग में देखा जा सकता है।

कथा-प्रवाह और मार्मिक स्थलों की रमणीयता, दोनों ही बातें काव्य के लिए आवश्यक है, किन्तु मर्म-स्थलों का ही रस कथावस्तु को भी रसवान बनाता है। बहुत से स्थल केवल छंदोबद्ध गद्य होते हैं, जिन की साकेत में कमी नहीं। काव्य का सौंदर्य्य आठवें सर्ग से फूटना शुरू हुआ है। इस से पहिले भी कुछ मार्मिक स्थल अवश्य हैं किन्तु सारा रस इतना घुला हुआ-सा जान पड़ता है कि हृदय को वह अधिक आकर्षित नहीं करता। कुतूहल बढ़ाने वाले एक आध स्थल अवश्य इस के अपवाद हैं। कुतूहल की भावना, व्यक्ति को आगे बढ़ने में सहायक होती है। इस भावना का बना रहना उचित है। परन्तु कथा-वस्तु, वस्तु ही है काव्य नहीं। जीवन में ऐसा भी होता है कि कुछ घटनाओं से व्यक्ति एक ही भावना में लीन हो जाता है; और बहने के अतिरिक्त डुबकी लगाना भी मनुष्य पसंद करता है। ऐसे अंशों के लिए कथानक की धारा अपेक्षित है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने ऐसे ही स्थलों को मार्मिक स्थल कहा है। कोई कहते हैं कि सबसे बढ़िया काव्य वह है जो सबसे अधिक चित्र प्रस्तुत कर सके। काव्य की सफलता इसमें है कि थोड़ी देर के लिए व्यक्ति को वह भुला दे कि आगे क्या होगा और एक भावना में निमज्जित कर दे। इन दो रूपों का सामंजस्य ही पूर्ण कहलाया जा सकता है। काव्य में नौ रसों का होना जीवन को संपूर्ण बनाना है। घटनाओं का होना आवश्यक है किन्तु

इसलिए कि वे उन परिस्थितियों को प्रस्तुत करते हैं जिनमें जीवन की पूर्णता अभिनीत होती है।

प्रबंध काव्य में सभी रस स्थान पाते हैं किन्तु प्रधानता शृंगार वीर, करुण और शांत में से किसी एक को दी जाती है। इन रसों के साथ साथ शेष रस सहायक रूप में आ सकते हैं जिनका उद्देश्य मुख रस की सहायता करना और उसके विकास में पूर्ण सहयोग देना रहता है। अधिकतर विभिन्न प्रकार के भावों की व्यंजना के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के रसों की आवश्यकता पड़ती है और उनके उचित प्रयोग से ही काव्य की सरसता बढ़ती है! साकेत में विप्रलंभ शृंगार के उपकरण ही प्रधान कहे जा सकते हैं पर उसके साथ साथ शेष रसों के उपकरणों का समावेश किया गया है। जिस सर्ग में जैसी घटनाएँ आई हैं उनके साथ उन्हीं के अनुरूप इस-सामग्री का चुनाव किया गया है। ग्रंथ के आदि में हमें संयोग शृंगार के उपकरणों के दर्शन होते हैं बाद को करुणा की हत्या दिखाई देती है! उसके बाद विप्रलंभ शृंगार का नग्न नृत्य है। दो सर्गों को इसी नग्न नृत्य के प्रदर्शन में लगाया गया है। छंदों के गलत चुनाव से विप्रलंभ शृंगार का विकास भी ठीक से नहीं हुआ। विप्रलंभ शृंगार के अलावा वीर भाव के भी ढोल, गुप्त जी ने पीटे हैं, जिस अंश को इस भाव के लिये चुना है कथा के लिए वह विशेष उपयुक्त नहीं, शस्त्रों की चमक दमक खड़खड़हट झनझनाहट और दर्पोक्तियों तक ही गुप्त जी का वीर भाव सीमित है। ग्रंथ के अंत में फिर शृंगार की एक झलक है। साकेत के विकृत प्राण तत्कीय शृंगार के ही सहारे बचे हैं। उर्मिला कथा; सीता का नख शिख वर्णन, उर्मिला का कामासक्त विरह और तत्संबंधी रूप ही इस ग्रंथ का प्रमुख अंग हैं। 'करुणे क्यों रोती है उत्तर में और अधिक तू रोई, मेरी विभूति है जो, उसे भवभूति कहे क्यों कोई?' कह देने से ही भवभूति के उत्तर-रामचरित की करुणा नहीं आ जावेगी। रीति परंपरा के शृंगारियों ने जिस प्रकार की अस्वाभाविक कथाएँ, विरह-वर्णन या प्रकृति के नाम पर की हैं, जिस प्रकार की अलंकारों की पच्चीकारी में समय नष्ट कर कविता की हत्या की, उसी प्रकार की हत्या मैथिलीशरण जी ने भी अधिक से अधिक मात्रा में साकेत में की है।

पुरानी परम्परा के कवि होने से गुप्त जी ने साकेत में पुराने ढँग का

का षटरितु वर्णन भी किया है। भेद यही किया है कि उर्मिला की विरह-दशा के मेल में पड़ने वाले ग्रीष्म से उसे आरम्भ किया है। नवम सर्ग में उर्मिला का उत्ताप प्रधान है। सब रितुओं पर उसका रग चढ़ा है। प्रत्येक रितु का चित्र, शब्दों के द्वारा अंकित करने का प्रयत्न किया है। ये चित्र उर्मिला के भावों के लिये, उद्दीपन का काम करते हैं। उर्मिला का विरह-ताप ग्रीष्म में बढ़ता है, वर्षा में उद्दीप्त होता है, शरद में शीत पाने पर भी दाहक ही बना रहता है।

षटरितु के अलावा नवम सर्ग में पर्वत, नदी, झरने, सूर्योदय, सूर्यास्त, कोयल, पपीहा, चातक, खंजन पतझड़ बीरबहूटी, मोर, हस आदि भी हैं। इन सब को, कल्पनाओं की 'परकटी' उड़ान के साथ साकेत में भरने में गुप्त जी ने केशवदास के भी कान काट डाले हैं। प्रकृति की सुन्दरता जिनके बाँट नहीं पड़ी, सौन्दर्य्य को देख सकने वाली दृष्टि जिनके हृदय ने पाई ही नहीं वे जब आवश्यकतावश प्रकृति को अपने बीहड़ों में लाना चाहते हैं तब पंचवटी की चारु चन्द्रिका भी चौधारे आँसू बहाने लगती है!

भाव, भाषा और रस से छंदों का विशेष सम्बन्ध, रहता है। जिस प्रकार के भाव होते है,जिस भाषा में वे व्यक्त किए जाते हैं उनके अनुरूप छद यदि चुन लिए तो रस परिपाक में कवि को विशेष सफलता मिलती है! कुछ छद वर्णानात्मक भाग के लिए ही उपयुक्त होते हैं जैसे द्रुतविलंब, हरिगीतिका। कुछ छंद कोमल भावनाओं की व्यजना में विशेष सहायक होते हैं जैसे मन्दाक्रान्ता, मालिनी; ये दोनो छन्द मनोविज्ञान की दृष्टि से हृदय की कोमल भावनाओ की व्यजना में विशेष उपयुक्त कहे जा सकते हैं। कुछ ऐसे भी छंद होते हैं जो केवल वीर रस के भावों के लिए उपयोगी होते हैं।

कवि अपनी प्रतिभा और कल्पना से छदों के चुनाव में सतर्क यदि रहे तो उसका काव्य अधिक सफल हो सकता है। छंदो के चुनाव में असावधानी यदि हुई तो वह अपनी रचना में उस सरलता को लाने में असफल रहेगा जो उसके काव्य की बड़ी भारी निधि कहलाती है। इसी प्रकार, छंद

के अनुकूल भाषा का चुनाव भी आवश्यक होता है।

गुप्त जी ने साकेत में अनेक छंदों का प्रयोग किया है। प्रबंध काव्य-शैली में छंद बदलने आवश्यक भी हो जाते हैं। सर्गों के साथ, भावों के बदलाव और घटनाओं के परिवर्तन के साथ छंद भी बदल जाते हैं; साकेत में छंद सबसे अधिक बदले गये हैं। नवम सर्ग में, जहाँ उर्मिला विक्षिप्त दशा में है इसलिये छंद भी चंचल हैं, किन्तु छंदों का आवश्यकता से अधिक परिवर्तन हुआ है इसलिये उसके भाव, गहरा प्रभाव नहीं छोड़ते। साकेत के नवम-दशम सर्ग में ही लगभग पचास प्रकार के छंद आ गये हैं, जिनमें संस्कृत के तथा हिन्दी के छंद भी हैं। वर्णिक भी हैं और मात्रिक भी। नवम सर्ग में आये छन्दों में कुछ छन्द इस प्रकार है। १ मन्दाक्रान्ता (दो वंशों में), २ द्रुतविलंबित (अवधि को अपना, विफल जीवन), ३ उपेन्द्र वज्रा (मिलाप था दूर, यथार्थ था सो सपना) ४ इन्द्रवज्रा (जो प्राप्ति हो, आते यहाँ नाथ), वंशस्थ (आलि काल है काल), ६ वसंततिलका (ओहो मरा वह वराक), भुजंग प्रयात (अरी व्यर्थ है), ८ शार्दूल विक्रीडित (सींचे हो बस), ९ मालिनी (सखि विहग कहां, त्रिविध पवन ही, पथ तक जकड़े हैं), १० शिखरिणी (पीऊँ ला, जात तथा) ११ तांटक (करुणे क्यों), १२ आर्या (कूड़े से भी), १३ आर्या गीति (स्वामि सहित सीता, अपने अतुलित), खग्धरा (लाई है चार, रोती हैं और दूनी), १५ पृथ्वी (निहार सखि, सारिका), १६ रास (तुझ पर मुझ पर हाथ), १७ उपजाति (लेते गये क्यों, विचारती हूँ सखि), १८ हरिणी (विहग उड़ना भी), १९ विष्णुपद (वेदने तू भी), २० ललितपद (आकाश जान सा, निरख सखी) २१ (क्या क्षण-क्षण में चौंक रही), २२ मितात्तरो (अब भी समझ वह नाथ), २३ इन्दिरा (निरखता सखा आज मैं जहां, विजय नाथ का है), २४ भुजंगी (सांख मेरी धरती; सखि सत्य क्या मैं), २५ सार (जीवन के पहले प्रभात), २६ चौपई (सिद्ध शिलाओं के), २७ सरसी (कहती मैं चातकि), २८ सुन्दरि (लपट से), २९ दोहा (मानस मन्दिर में; हुआ दुख स्वप्न, उसे बहुत थी विरह के; रस हैं बहुत), ३० दुर्मिल (सखि नील नभ्भसर में; भ्रमरी इस मोहन की; सखि मैं भव कानन), ३१ सोरठा (लिख कर लोहित), ३२ कुण्डलिया (चौदह चक्कर), ३३ मन हरण (नंगी पीठ पर; मैं निज अलिन्द;

पूछी थी सुकाल;) इत्यादि। कल्पना से विशेष कार्य नहीं लिया। नवम सर्ग में ऐसे ऐसे छोटे छंद भी हैं जो छोटे होने के कारण भावों की पूर्ण व्यंजना में विशेष सहायक नहीं होते। भावों की, चाहे वे विक्षिप्त ही दशा के भाव क्यों न हों—गंभीरता की व्यंजना में छन्दों का चंचलपन बाधक सिद्ध हुआ है। लय और विषमता के उलट फेर से भावों की तीव्रतम स्थिति कुछ काल भी नहीं रहने पाती, पाठक के हृदय पर कोई भी एक भावना अपना पूर्ण प्रभाव नहीं डालने पाती। फल स्वरूप पूरी रचना किसी अंश में प्रसाद गुण से रहित हो जाती है और रस का परिपाक भी ठीक नहीं होता। पाठकों का हृदय भी उर्मिला की विरह-ताप की गाथा सुनने के लिए पूर्ण रूप से उत्सुक नहीं रह पाता।

अलंकारों के द्वारा, काव्य में बाहरी शोभा आती है और गुणों के द्वारा काव्य में आंतरिक सुन्दरता बढ़ती है। अलंकारों का प्रयोग किसी काव्य में न भी हो तो भी काम चल सकता है, गुणों के न रहने से कविता किसी काम की नहीं रहती। सुन्दर काव्य के लिए इन दोनों की आवश्यकता है। बाहरी सुंदरता उसके आत्मिक सौन्दर्य्य तक सुन्दर ढंग से पहुंचने में सहायक होती है किन्तु यह तभी होता है जब उचित रूप से छंद-अलंकार योजना की जावे। भाषा सौन्दर्य्य के लिए अलंकारों की योजना इसी प्रकार से आवश्यक है। यदि भावों के उत्कर्ष बढ़ाने वाले अलंकारों का प्रयोग, स्वाभाविक ढंग से किया जावेगा तो उससे काव्य की सुन्दरता अवश्य बढ़ेगी, यदि भावों की हत्या कर, अलंकारों को ही प्रधान बना दिया जावेगा तो 'वेदने तू भी भली बनी' जैसी भद्दी रचनाएं तैय्यार होंगी, जिनमें भाषा की सजावट ही प्रधान रहती है काव्य का भाव सौंदर्य्य तनिक भी नहीं रहता।

साकेत में, प्राचीन तथा नवीन दोनों ही शैलियों के अलंकार, मुहावरों और व्यंजनाओं सहित भी आये हैं। प्रसाद, पंत के प्रभाव से साकेतकार मुक्त नहीं। उसने इन कवियों को गालियाँ भी सुनाई थीं किन्तु फिर भी वह इन के काव्य से प्रभावित हुआ है। 'जीवन के प्रभात में आँख खुली जब मेरी' आदि में प्रसाद का अजातशत्रु और 'ढलमल-ढलमल आंचल' आदि में पंत का पल्लव स्पष्ट बोल रहा है। गुप्त जी हैं तो चक्खी,

मक्खी, रक्खी आदि में। नखशिख वर्णन अधिकांशतः प्राचीन शैली पर किया गया है। पहले सर्ग में उर्मिला का, आठवें सर्ग में सीता का नख-शिख इसी प्रकार का है। यद्यपि सीता नखशिख वर्णन में व्यंजनाओं से काव्य की कुछ रक्षा अवश्य कर ली गई है किन्तु है वह ओछे शृंगारी अल्हैत द्वारा किया गया नखशिख वर्णन, राम-भक्त द्वारा किया गया नखशिख वर्णन उसे नहीं कहा जा सकता। 'सीता माता' कह देने से नखशिख वर्णन की हीनता कम नहीं हो जाती। हीरकों में गोल नीलम हैं जड़े, अस्ति सार है देता, नए ढंग के अलंकार हैं, मक्खी-सी भिनभिना रही, बो-बो कर कुछ काटते- सो-सो कर कुछ काल, मंजीर मराल मचलते, जिन पर मानस ने पद्म रूप मुँह बाया, आदि अलंकार वैचित्र्य के उदाहरण हैं। अलंकारों के पीछे गुप्त जी की व्यंजना कुछ टेढ़ी होती है। मुहावरों और ध्वनियों से भी कभी कभी वे काम ले लेते हैं। भाव मुद्राओं और गतियों का वर्णन, अलंकारों की सहायता से किया गया है। साकेत में भावों के उत्कर्ष के लिये अथवा उक्तियों में चमत्कार लाने के लिए अलंकारों का उपयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है; भावों की हत्या भी उनसे हुई है, 'वेदने तू भी भली बनी' इसका अच्छा उदाहरण है। यह ही क्यों, सम्पूर्ण नवम सर्ग, सामूहिक रूप में इसका अच्छा उदाहरण है। वेदना और दुख में पड़ा व्यक्ति अलंकारों को ढूँढ़ ढूँढ़ कर नहीं लाता। नवम सर्ग ही उर्मिला की वेदना का सर्ग माना जाता है और उसी सर्ग में गुप्त जी अपने अलंकारों की पच्चीकारी सबसे अधिक करते हैं। उर्मिला की वेदना से उनको उतना मतलब नहीं जितना शेष रहे हुए काम को पूरा करने से तथा अलंकारों के चमत्कारी खेल दिखलाने से। अलंकार पढ़ाने के लिए रामचन्द्रिका से अधिक उपयोगी साकेत अवश्य सिद्ध हो सकता है।

साकेत की भाषा ऊबड़ खाबड़ खड़ी बोली है। उसका यह रूप प्रिय-प्रवास से अधिक निखरा अवश्य माना जाता है, भावनाओं की व्यंजना सुकुमारता तथा तन्मय प्रेषणीयता का, काव्य सापेक्ष विचार करने पर, साकेत की भाषा अविकसित ही है। दोहों की भाषा में चुटीलापन अवश्य है। गुप्त जी में ठेठ हिन्दी तथा उसके मुहावरों के प्रति विरक्ति की भावना है। अप्रचलित अश्लील तथा जटिल कृत्रिम संस्कृत के प्रति उनका राग

है। भाषा की सुन्दरता भावों की उदात्तता और जीवन की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति से गुप्त जी को वैसा ही बैर है जैसे मक्खी को दूध से और जुगनू-सम्प्रदाय के लोगों को निर्भीक सत्य से, पुरानी पीढ़ी के अध्यापकों को आधुनिक काव्य से, एजूकेशन डिपार्टमेन्ट तथा टेक्सट बुक कमेटियों को सत्साहित्य से और सुफेद टोपी वालों को ईमानदारी से।

भाषा की दृष्टि से पंचवटी की भाषा साकेत की भाषा से अधिक मँजी हुई कही जा सकती है। तरु झूम रहे हैं, वनचारी विहरते हैं, अपनी जड़ें जमा लूँगा, पौ फटी, झाड़ी में यहाँ झरनों की झड़ी झिरती है, ममता कितनी कच्ची है, सेंत मेंत की पदवी पाई, खड़ी बोली के अच्छे प्रयोग हैं, अँगुली पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ना, तुम माँगा कहीं न मेरी मौत, गूँजा किया, क्यों मन को यों हनते हो, वर्षें बीत गईं, खड़ी क्या स्वयं ऊषा थी इत्यादि असमर्थ, शिथिल और अशुद्ध प्रयोग हैं। कहा जा सकता है, 'गुप्त जी उन लोगों में नहीं हैं जो भाषा को सजीवता को व्याकरण के नियमों से जकड़ देने के आदि होते हैं। व्याकरण को भाषा का अनुसरण करना चाहिए न कि भाषा को व्याकरण का'। भाषा का लक्ष्य सही प्रेषणीयता बोलचाल में भी है और साहित्य में भी। और 'क्या ऊषा नहीं हुआ करती;' 'ऊषा थी क्या' रूप सही होता जो आनन्द 'सो आनन्द भी नहीं हुआ करते' सही प्रयोग आनन्द की जो उत्पत्ति होती है, माना जायगा। इसी भाँति, मन, 'क्यों मन' और 'यों मन' नहीं हुआ करते; 'मन को क्यों यों हनते हो' रूप ला देने से सब बात बन जाती; 'तुम माँगा कहीं न मेरी मौत', को तुलसी के 'मर्म बचन सीता जब बोला' के आधार पर शुद्ध प्रमाणित करना उचित नहीं। 'माँगो' रूप होना चाहिए था। तब भी खड़ी बोली में यहाँ 'तुम' के बाद 'ने' विभक्ति अपेक्षित है। साकेत का 'जावालि और हेरे' प्रयोग भी इसी तरह का है। 'कहती मैं चातकि फिर बोल, यदि दे सकती ये आँखें खारी आँसू मोल' में 'कहती' भ्रमात्मक है 'यदि' के कारण हेतु हेतुमद्भूत के रूप में वह मानो जावेगी किन्तु प्रसंग में 'कहती हूं' का भाव भी आ जाता है इसलिए स्पष्टता नहीं रह जाती। हो गई अमावस सी पूनें, पर्णकुटी के बिरछे, हँस रही यह मंथरा क्यों घूर, सुत हू जो तू न विरुद्ध, इसे

त्याग का रँग न दीजो, अपमे श्रम का फल है लीजो, जय जयकार कुसुम की कीजो विधि हो माधव हो, राम नाम सत्य है आदि प्रयोग औचित्य रहित हैं। इनमें भाषा की न केवल भूले हैं वरन् अर्थ की भी अशुद्धियाँ हैं—माधव नाम विष्णु का कृष्णावतार में हुआ रामावतार में नहीं, राम नाम सत्य है की प्रथा बाद की है दशरथ के समय की नहीं, 'कीजो, लीजो दीजो, हूजो, रहैं' आदि रूप ब्रज भाषा में चाहे हों खड़ी बोली में शुद्ध नहीं। क्यों घूर हँस रही, पूनें, उनके प्रती, जब तक जाय प्रणाम किया, भीति भरी अँखियाँ, कटि टूटी, अद्रि ढाहे' जैसे प्रयोग भी साकेत में हैं। सिद्धराज में गुप्त जी, भाषा और मुहावरों के साथ ही साथ, वाक्य-विन्यास और अर्थ की भी कमर तोड़ते हैं। 'जब राजा है बनाता पिता पुत्र को, पाक राज भोग' गुप्त जी की खड़ी बोली के ऐसे नमूने हैं जो इस बात को स्पष्ट बतला रहे हैं कि मैथिलीशरण जी का सर्वतोमुखी पतन हुआ है। भाषा और साहित्य, काव्य और जीवन, आदर्श और यथार्थ, सत्य और सुदरता में से किसी को भी उन्होंने सच्चे दिल से प्यार नहीं किया। गुप्त जी आरम्भ से ही भारवाही, आदर्शवादी, थोथे राष्ट्रीय, झूठे गांधीवादी, सस्ते भावुक, गहरे गंठकटे और पक्के ढोंगी रहे हैं।

इन सब विशेषताओं से युक्त उनका साहित्य, उनका साकेत तब तक आदर पाता रहेगा, तब तक पढ़ाया जाता रहेगा, जब तक हिन्दी साहित्य में सुगनू उलूक सम्प्रदाय का बोल बाला है, जब तक साहित्य स्वार्थी व्यापारियों के हाथ में है और आलोचना चाटुकारों के हाथ में।

मैथिलीशरण गुप्त शरीर से उन्नीसवीं बीसवीं शताब्दी में विचरण करने पर भी मन से सत्रहवीं शताब्दी के इन्द्रजीत के अखाड़े के केशवदास के अल्हैत बने हैं। यदि तुक भिड़ंत और भटैती ही कविता है बिना वेदना और चेतना के भी कोई राष्ट्रीय हो सकता है तो निसंदेह ही मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी के महान् से महान् राष्ट्रीय कवि हैं। संभवतः उनकी इस महान् राष्ट्रीयता के सन्मुख विश्व के सभी देशों और साहित्यों की राष्ट्रीयता भी लज्जित हो जावेगी। जयशंकर प्रसाद, भूषण, तुलसी, भवभूति, कालिदास, भास और बाल्मीकि की तो बात ही क्या है। साकेत के राम-सीता, उर्मिला-लक्ष्मण, भरत-मांडवी, शत्रुघ्न-श्रुतकीर्ति, हनुमान, वसिष्ठ जाबालि,

कैकेई-दशरथ आदि भी साकेत को देखकर उसी तरह प्रसन्न हो उठेंगे जिस तरह राग-रागिनियां किसी बीते अतीत में नारद के हाथ पड़ कर प्रसन्न हो उठी थीं।

साकेत का कथानक रामायण से लिया गया है। जनता में वह कथा पहिले से ही व्याप्त है। साकेत में बारह सर्ग हैं। नवम सर्ग को छोड़ कर सर्ग न बहुत बड़े हैं न बहुत छोटे। सर्गों के अलग अलग नाम नहीं दिये गए हैं। गणेश, सरस्वती और कवियों की वन्दना भी है। सातवें सर्ग से आठवें का आभास होता है, किन्तु आठवें को नौवें से जनक के गौरव भर से जोड़ा गया है। इस प्रकार सम्बन्धित होते हुए भी घटना स्थलों की भिन्नता के कारण, आठवें के अन्तिम अंश से नौवें के आरम्भ का आभास नहीं होता। अधिकांश सर्गों में इस बात का ध्यान कम रक्खा गया है कि हरेक सर्ग का अंत दूसरे सर्ग के आरम्भ का आभास दे। नौवें सर्ग में लगभग पचास छंद हैं जो भावों के उपयुक्त भी ठीक से नहीं चुने गये हैं। उर्मिला के चंचल मन की भांति ही वे चचल होते तो बात थी किन्तु उनके औचित्य अनौचित्य का विचार न रखने से विचार भाव धारा टूट जाती है, जब तक एक छन्द का भाव अपना कुछ प्रभाव पाठक के मन पर छोड़े तब तक दूसरा छन्द आ जाता है। भाव की इस वृत्ति की दृष्टि से उपाध्याय जी के प्रिय-प्रवास में अधिक विवेक से काम लिया गया है। यह भी एक कारण है जो उसका प्रभाव पाठक पर भाव के अनुकूल और कुछ अधिक स्थाई पड़ता है। एक भाव में दूर तक पाठक को बहा ले जाने की जो क्षमता प्रिय-प्रवास में है, साकेत में वह नही है। साकेत में छन्दों के नियमों का पालन ठीक से नहीं हुआ है; छन्द कहीं तो केवल अलंकार योजना के ही लिये लिखे गये हैं। न तो कथानक ही व्यवस्थित रूप में लाया गया है, कथानक का अधिक भाग, साकेत में ही वर्णित किया है। विप्रलंभ शृंगार की प्रधानता है। शेष रसों के भाव गौण रूप में आये हैं।

प्रकृति की वस्तुओं का वर्णन परंपरागत ही अधिकांश में है किन्तु कहीं कहीं वैज्ञानिक तथ्यों के ज्ञान से स्वाभाविकता की रक्षा करते हुए नये ढग के कवियों प्रसाद, पंत आदि की शैलियों का अनुकरण करने का

भी यत्न किया गया है जो चेतना की भिन्नता के कारण उछल कर बोल उठता है। ऋतु वर्णन भी परंपरानुमोदित ही है और संस्कृत के रूढ़ कवियों की शैली का है।

संधियों का पालन नहीं किया गया है। नवम सर्ग में उर्मिला, ग्यारहवें में हनुमान, बारहवें में वसिष्ठ की प्रधानता है। कथा का स्वाभाविक प्रवाह बिना किसी रुकावट के विकसित नहीं हुआ है। राम जन्म से नहीं, राज्याभिषेक से कथा आरम्भ होती है। राज्याभिषेक से पहिले की तथा चित्रकूट के उपरांत की घटनाओं का समावेश दशम और एकादश सर्ग में किया गया है। यह ढग प्रिय-प्रवास से सीखा गया जान पड़ता है। लक्ष्मण-शक्ति के बाद की कथा वसिष्ठ को दिव्य-दृष्टि से दिखला दी गई है। हनुमान को अयोध्या में ही संजीवनी प्राप्त हो जाती है। कथा की पूर्ति दृश्य और सूचना के रूप में की है पर बीज, बिन्दु पताका के रूप में कथा वस्तु का विकास नहीं हुआ।

नाम न तो नायक के नाम पर है न कथानक के विषय पर, स्थान के नाम पर है, जो उपयुक्त नहीं है—'संतप्त साकेत' शायद कुछ अधिक उपयुक्त होता। प्रिय-प्रवास नाम ग्रंथ के विषय का बोध कराने वाला है, साकेत नाम नहीं। जान पडता है रघुवंश के अनुकरण पर नई बात सूझी और नामकरण किया गया।

राम-कथा की अँगूठी में उर्मिला का नग जड़ा है, किन्तु राम कथा में न तो साकेत को ही नायक के स्थान पर माना जा सकता है न लक्ष्मण उर्मिला को ही 'पीठ मर्द' की तरह लिया जा सकता है। राम-कथा में राम के अतिरिक्त कोई भी दूसरा चाहे वह कोई सिद्धान्त अथवा आदर्श ही क्यों न हो, नायक का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता।

साकेत में धीरोदात्त क्षत्रिय राम नायक के रूप में प्रकाश में न आकर परोक्ष में चले जाते हैं। और समस्त कथा का दृष्टिकोण उर्मिला से ही सीमित हो जाता है। खण्ड काव्य की शैली में लघु वृत्त यह पंचवटी जैसी किसी 'उर्मिला व्यथा' की रचना के अनुकूल होती। साकेत में उर्मिला न तो नायक ही हो सकती है न नायिका ही। नायिका इसलिए नहीं कि

प्रेम के आधार पर उसका सम्बन्ध राम से नहीं हो सकता। अतः उर्मिला साकेत की एक साधारण पात्र ही है पर उसकी सत्ता नायक के स्थान पर मान ली गई है। इस कारण साकेत का 'अधिकार' नायक से सम्बन्ध नहीं रखता, वह उर्मिला से सबन्धित है और आधिकारक वस्तु (राम राज्याभिषेक के) 'फलागम' तक नहीं पहुँचती, बल्कि उर्मिला-लक्ष्मण का मिलन ही फल होता है।

कहा जा सकता है उर्मिला को नायक के रूप में कथावस्तु का अधिकारी समझ कर चित्रित किया गया है, किन्तु पहिले तो राम-कथा में राम ही सारी कथावस्तु के कारण, विस्तार और अंत रहते हैं। फिर उर्मिला स्त्री है भारतीय नाट्य शास्त्र के अनुसार, स्त्री नायक नहीं हो सकती क्योंकि नायक के लिए—धीरता का गुण नितांत अपेक्षित है। लक्ष्मण भी अपने गुण तथा अल्प चित्रण के कारण नायक नायक नहीं हो सकते।

इस प्रकार साकेत महाकाव्य के आवरण में खंड काव्य शैली की अव्यवस्थित विकलांग रचना है जिसमें उर्मिला की प्रधानता है और कर्तव्य के आदर्श के लिए दुख सहने में ही धीरता का आरोप उसमें किया गया है।

उर्मिला को प्रधानता देकर भी साकेत प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से असफल प्रयास है और महाकाव्यत्व न होने के कारण उसे महाकाव्य कहा ही नहीं जा सकता। वह असंबद्ध अव्यवस्थित मुक्त-गीत खंडों का जमघट है।

५

मैथिलीशरण गुप्त

गुप्त जी (जन्म श्रावण शुक्ला द्वितीया, दो बजे रात, १९४३ वि०) हृदय की स्वच्छन्द, प्रसन्न भावनाओं के प्रेमी नहीं हैं, ऐसा होने के साधन भी उनके पास नहीं रहे। वे संस्कृत जानते हैं, बंगला जानते हैं, टूटी फूटी गुजराती भी उन्हें आती है, किन्तु अंगरेजी नहीं जानते। बाल्यकाल में झाँसी के मैकडोनल्ड हाइस्कूल में अंगरेजी पढ़ने का अवसर जब आया था तब उन्होंने कनकौवे उड़ाने, मुर्गे उड़ाने और आल्हा गाने में दिन बिताये। १९०१-२ ईसवी से अपनी तुकबंदियां वे करने लगे थे। कलकत्ते के 'वैश्योपकार' में ही उनकी वे तुकबंदियां छपती थीं, बाद को कानपुर और प्रयाग के पत्रों ने उन्हें प्रोत्साहन दिया। सरस्वती में पहली बार उनकी तुकबन्दी 'हेमन्त' सबसे पहली छपी थी, जिसमें महावीर प्रसाद द्विवेदी के शोध-सुधार थे। द्विवेदी जी के 'कल्पित-दुर्ग' लेख के आधार पर गुप्त जी ने 'रंग में भंग' लिखी जो सन १९०९ ई० में महावीर प्रसाद जी के लिखे आमुख सहित पहली बार छपी। इसी समय प्रसाद जी का 'कानन कुसुम' छपा था। १९१० ई० में 'जयद्रथ वध' छपा और १९१२ ई० 'भारत-भारती'। फिर तो लिखना और किताबों को बेचना एक व्यवसाय ही हो गया। भार किसी के भी ऊपर रहा हो, पुस्तकी व्यवसाय में अधिक धन गुप्त जी ने कमाया और अपने ग्रन्थों में धन को तुच्छ समझने का उपदेश गुप्त जी देते फिरते हैं।

गुप्त जी की सभी पद्य रचनाओं को खोज डालिये, आप को कहीं भी 'संचारिणी दीप शिखेव' उपमाएँ नहीं मिलेंगी, आप को कहीं भी 'चिकुर

गरह जलधारा, मेह बरस जनु मोनिम हारा' की तरह उत्प्रेक्षाएँ नहीं मिलेंगी। उनकी किसी भी पद्य पुस्तक की नायिका, जायसी की पद्मिनी-सी नहीं है, कोई नायक रत्नसेन-सा नहीं।

गुप्त जी किसी को टेढ़ी नज़र से भी नहीं देखते; उनकी कृतियों का परिशीलन कर पाठक कम से कम इसी नतीजे पर पहुँचता है।

गोस्वामी तुलसीदास जी को देखिए—कितने व्यंग-भरे हैं! कैसी तीखी हँसी उड़ाते हैं, रामचरित-मानस के प्रारंभ में दुष्टों की वंदना करने भी गोस्वामी जी बैठते हैं और उनको भाँति-भाँति की उपाधियों से विभूषित करते हैं; वे 'पर अकाज-भट सहस-बाहु से' हैं, जिनका लाभ 'परहित-हानि' में ही है, जो दूसरों के दोष को 'सहसाखी' (हज़ार आँखों से) देखते रहते हैं, और जो 'पर अकाज लगि' प्राण दे डालते हैं। परशुराम संवाद में देखिए, गोस्वामी जी के लक्ष्मण, परशुराम के कुठार पर और उनके मुनि-वेश पर कैसे-कैसे व्यंगों की वर्षा करते हैं, कैसी हँसी हँसते हैं!

गुप्त जी ऐसे नहीं हैं। वे जैसे बिगड़े घोड़े पर कशाघात करने से भी पीड़ित हो उठते हैं। भारत-भारती में रईसों के सपूतों को ऐसी ही बन्दना करने वे बैठे हैं—

'यदि रंडियों के साथ वे ठेका लगाते हैं कभी—
तो क्या हुआ! अपनी प्रिया पर प्रेम रखते हैं सभी।'

उन्हें जैसे किसी से द्वेष नहीं है, कोई भी अप्रिय नहीं है।

गुप्त जी सरल हैं; उनकी रचनाओं में प्रकृति सरल है, भाषा भी सरल, और भाव भी सरल हैं, उनकी उपमाएँ भी सरल हैं, सुन्दरी शूर्पनखा के अंगों में रत्नाभरण दिपते हैं—

'ज्यों प्रफुल्ल बल्ली में सौ-सौ जुगनू जगमग जगते थे,'

इस सरलता के सहारे गुप्त जी कभी कभी डसने वाली तड़कीली सुन्दरता के समीप पहुँच जाते हैं। साकेत के चित्रकूट की सीता की सुन्दरता,

माता की सुन्दरता नहीं है, 'भारत-भारती' के रईसों के सपूतों की प्रिया की हसने वाली तत्त्वकीय सुन्दरता है। मुहावरों की टेढ़ी व्यजनाओं और विज्ञान के तथ्यों के कधों पर खड़ी, गुप्त जी की उत्प्रेक्षाएँ भी टेढ़ी नहीं हैं। सरल अलंकारिक व्यजनाओं के सहारे गुप्त जी तरलता के तीर भी पहुँच जाते हैं—

'गोरे देवर, श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं,'
'वैदेही यह सरल भाव से कह गई,
फिर भी वे कुछ तरल हँसी हँस रह गई,'

गुप्त जी प्रकृति को प्यार नहीं करते; उन्हें बनों में घूमना प्रसन्द नहीं, वे बनों के बीच कल्लोल करती हुई, अपनी अंगच्छटा को नील तृणों तथा छाया के बीच छिपाती हुई, और छिपा न पाने पर, आँखें मूँद कर हँसती हुई नदी के सौन्दर्य ने उन्हें कभी मोहित नहीं किया, उनके सामने यदि कभी कोई नदी आई भी है तो पंत की शब्दावली का किल्लोल लेकर—

सखि, निरख नदी की धारा;
ढलमल ढलमल चचल अंचल, झलमल झलमल तारा,
निर्मल जल अन्तःस्तल भर के, उछल उछल कर, छल छल करके
थल-थल करके, कल कल धरके, निखराता है पारा!
सखि निरख नदी की धारा।'

उनका चित्रकूट वर्णन सीधा-सादा है—

'सिद्ध शिलाओं के आधार ओ गौरव गिरि उच्च उदार!
तू निर्झर का दाल दुकूल, स्वागतार्थ सबके अनुकूल,
खड़ा खोल दरियों के द्वार, ओ गौरव गिरि उच्च उदार!'

जिसमें 'दरी' मुखोल्येन समीरणेन के रचयिता के राम की सजलता-ममता को स्थान नहीं, जो कहती—

आनन्दयत्युन्मुख कृष्णसारा दृष्टा चिरात्पंचवटी मनो मे' और न, 'दधति कुहर भाजाम् अत्र भल्लूक यूना' के दृष्टा की वह दृष्टि है जो प्रकृति के 'भीषणाभोग रूक्ष' रूप के साथ 'स्निग्ध-श्याम' शोभा के दर्शन कर सकने में समर्थ हुई थी। सिद्ध-शिलाओं के आधार उच्च उदार इस गिरि पर चार चन्द्र

की चंचल किरणों और शिखि नृत्य-ध्वनियाँ तथा ऊषा उर्मियाँ फूटती हैं तो 'कानन-कुसुम' से ले आई हुई हो। अपने व्यापार के घाटे का रोना रोने वाले व्यापारियों के सम्मुख, प्रकृति के सौन्दर्य उपकरण विरूपाक्ष भयंकर तक्षक बनकर ही आते हैं, जिनकी दूरस्थित झलक भर में ही इन की रूह काँप जाता है।

पंचवटी देखनी हो, उस के प्राण-स्वर सुनने हों तो उत्तर रामचरित में पहुंचिए। चित्रकूट को देखकर भवभूति का हृदय आनंदातिरेक में भर जाता है, वे उसे सँभाल नहीं पाते, राम के प्रहार से शंबूक को वैराज लोकों की प्राप्ति हो गई है, लेकिन उसे भवभूति जाने नहीं देते, दंडकारण्य का पूर्ण तथा मनोहर वर्णन कर लेने के पश्चात् ही, काव्य की गम्भीर गोदावरी के पुण्य संगम में, शंबूक लीन हो पाता है। और पंचवटी! उसको भवभूति ने इतना प्यार किया है कि उसकी छाया में सीता के लिए रोती हुई वासंती को उन्होंने देखा है।

गुप्त जी को भवभूति की याद आई तो साकेत के नवम सर्ग के आरम्भ में, चित्रकूट और पंचवटी से गुप्त जी को प्रेम होता तो वह याद उन्हें चित्रकूट में (साकेत के आठवें सर्ग में) आती, पंचवटी में आती! गुप्त जी को प्रकृति से प्रेम नहीं, पंचवटी और चित्रकूट, राम-कथा और तुलसी से भी उन्हें प्रेम नहीं।

चित्रकूट और पंचवटी के साथ तुलसी के जीवन की अनेक स्मृतियाँ सम्बद्ध थीं इसी से गीतावली और विनयावली में वे इन स्थलों का ममतामय वर्णन कर पाये।

१

अब चित चेति चित्रकूटहि चलु,
कोपित कलि, लोपित मंगल मग, विलसत बढ़त मोह-माया-मलु,
भूमि विलोकि राम-पद-अंकित, बन विलोकि रघुवर-विहार-थलु,
सैल शृंग भव भंग हेतु लखि, दलन कपट-पाखंड-दंभ-दलु,
जहँ जनमें जग-जनक जगत-पति, विधि हरि-हर प्रपंच छलु,
सकृत प्रवेश करत जेहि आश्रम विगत विषाद भये पारथ तलु,
न करु विलंब, विचारु चारु मति, बरज पाछिले सम अगिले पलु,
(विनयावली)

२

सब दिन चित्रकूट नीको लागत !
बरषा रितु प्रवेश विसेष गिरि देखन मनु अनुरागत ।
चहुं दिसि बन-संपन्न, बिहँग मृग बोलत सोभा पावत,
जनु सु-नरेश देशपुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत,
सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमगे शृंगनि,
मनहुं आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर मुनि भृंगनि,
सिखर परस घन घटहिं, मिलति बग पाँति सो छबि कवि बरनी,
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठयो है दसनि धरि धरनी,
जल जुत विमल सिलनि झलकत नभ, बन प्रतिबिम्ब तरंग,
मानहु जग रचना विचित्र विलसति बिराट अँग अँग,
मंदाकिनिहि मिलत झरि-झरि, भरि-भरि जल आछे,
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानो राम-भगत के पाछे ।

चित्रकूट की याद तुलसी को सजल शांति देती है क्यों कि यही स्थल था जहाँ तुलसी तो चंदन घिस रहे थे और रघुवीर राम उन्हें तिलक देकर दर्शन दे गये थे, कलयुग के दुखी मानवों के पापों को अपने चाप का अचूक निशाना बनाने वाला अचल अहेरी यही वह चित्रकूट है जिसके वट-विटप के तले, बनवासी राम ने सीता-लक्ष्मण समेत अपने दिन बिताये थे, जहाँ बनवासिनी सीता को कुसुमालंकृत कर राम ने नर लीला की थी, पंचवटी की पर्ण-कुटी के आँगन में जगज्जननी ने राम-लक्ष्मण को माया के स्वर्ण-मृग के बध के लिए भेज, स्वयं महामाया का शरीर धारण करके रावण के छल कपट की प्रतीक्षा की थी, जहाँ पर्ण कुटी को सूनी पाकर पंचवटी के तरु-पल्लवों से, लता बेलों से, नदी-नालों-वनपर्वतों से सीता-विरह में रोते राम ने उस मृग नैनी का पता पूछा था, स्नेहियों के उन्माद में उस भूमि को आकुल कर राम ने जहाँ विश्व कल्याण के गीत गाये थे ।

राम-चरित के दो-तिहाई भाग की भूमिका—पंचवटी के तरु-पल्लवों के तले की—इन लीलाओं को ध्यान में धर कर, इनकी कल्पना में तल्लीन होकर तुलसी ने जिस अमरता को प्राप्त किया है वह विश्व की वांछा काल के बन्धन से मुक्त हो चुकी है ।

गुप्त जी को राम-साहित्य से प्रेम यदि होता तो साकेत जैसी विकृति और पंचवटी जैसी प्रकृति वे न देते। वे समझ पाते प्रकृति की सुन्दरता के उपादियों का विरोध करना व्यर्थ है। प्रसाद ने तुलसी-साहित्य की जितनी कटु आलोचना की है उतनी किसी ने नहीं की किन्तु फिर भी तुलसी की भूरण से आती हुई राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना को गौतमीय करुणा, कालीदासीय सुन्दरता और अपने युग की अन्तर चेतना सहित जितनी गहराई के साथ प्रसाद ने अपनाया है, समझा है, और समझ कर कलात्मक रूप में अभिव्यक्त किया है उतना चन्द्र कुँवर बर्त्वाल को छोड़ कर किसी भी अन्य कवि ने नहीं किया। लोग, नारे लगाते ही जाते हैं 'गुप्त जी राष्ट्रीय कवि हैं, महाकवि हैं, आर्य जीवन की सांस्कृतिक चेतना की सब में ऊँची उठी हुई लहर हैं।' विश्व-विद्यालय विद्यार्थियों को उनकी रचनाओं में सांस्कृतिक चेतना को ढूँढ़ने की गलत सलाह देकर गलत दिशा में नव-युवक-शक्ति को लगा रहे हैं। कविता की सहज सुन्दर शीतल मंदाकिनी में स्नान न कर, नरक की वैतरणी में डुबकी लगा 'हर गंगा' कहना ही यदि किसी को राष्ट्रीय-संस्कृति का महान कवि का पद दिला देने के लिए पर्याप्त हो तो निःसंदेह ही गुप्त जी राष्ट्रीय कवि ही नहीं, महाकवि हैं, वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, कबीर, तुलसी, सूर, भूषण, रवीन्द्रनाथ और जयशंकर प्रसाद तथा निराला से भी महान् हैं और तब तक वे इसी आसन पर रहेंगे 'जब तक यह संसार स्वर्ग नहीं बन जाता।'

किन्तु यदि तन्मयता, सत्यता, सुन्दरता और तपस्या जनित शिवत्व की संतुलित कलात्मक सरस्वती की हृदयजात अभिव्यक्ति का नाम कविता हो, जन-धन-धरती के प्रति उदार भाव की सामूहिक एक निष्ठ चेतना सांस्कृतिक राष्ट्रीयता कहलाती हो तो, गुप्त जी कवि नहीं हैं, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतनाओं के सामान्य व्यक्ति भी नहीं हैं; सांसारिक व्यापारी हैं जो परिश्रम करते करते उस स्तर तक पहुंचे हैं जहाँ सामान्य दृष्टि तुकबंदियों और चमत्कारवादिता तथा थोथे उपदेशों को ही महान राष्ट्रीय कविता समझने लगती है।

गुप्त जी में शक्ति थी किन्तु उन की शक्ति रंग में भंग, जयद्रथवध तथा भारत-भारती के बाद गलत दिशा में काम करने लगी। गुप्त जी यदि

आल्हा लिखते, गद्य लिखते तो साहित्य को अधिक महत्व की वृतियाँ मिलतीं, किन्तु मिलीं—विश्व वेदना, शक्ति, अर्जन-विसर्जन, गुरुकुल, विकट-भट, मंगल घट, पत्रावली, पंचवटी, साकेत, यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज, किसान, अनघ, नहुष, स्वदेश-संगीत, विरहिणी ब्रजांगना, वन-वैभव, बक-संहार, सैरंध्रा, वैतालिक, मेघनाद-वध, शकुन्तला, तिलोत्तमा, चन्द्रहास, हिन्दू, त्रिपथगा, झंकार, आदि नगण्य वस्तुएँ।

गुप्त जी कवि नहीं हैं, किन्तु इसी से उनके साहित्यिक कार्य का महत्व घट नहीं जाता। एक समय था जब भारत-भारती को रखने और पढ़ने की वजह से स्कूलों में रस्टिकेशन किया जाता था, इधर उधर गांवों में शिक्षित और अर्द्धशिक्षित लोग भारती-भारती के हरिगीतिका छन्द को पढ़-पढ़कर अपनी निद्रा में जग रहे थे उस समय गुप्त जी की भारत-भारती ने वह काम किया जिसे हजारों आदमी भी मुश्किल में हो कर सकते थे। उससे पहिले भी जिस समय खड़ी बोली और ब्रजभाषा में तनातनी चल रही थी, ब्रजभाषा के हिमायती खड़ी बोली को 'कर्कश-भद्दी भद्दी' कह कर लथड़ रहे थे उस समय गुप्त जी, खड़ी बोली की चट्टानों के बीच अपनी लेखनी से भगीरथ के हाथ की तरह चुपचाप काम करते रहे। उन्हीं चट्टानों में छिपी हुई भागीरथी को ढूँढते रहे। उनके पीछे, उन्हें उत्साह देने के लिए एक भीम मूर्ति खड़ी रहती थी, वह महावीर प्रसाद द्विवेदी की थी। काल बीता और ये लोग अपने कार्यों में सफल हुए। खड़ी बोली की निर्मल धारा प्रबल वेग में बह उठी। हो सकता है गुप्त जी उस जन के उद्दाम-प्रवाह को अपनी मुट्ठी में बंद न कर सकें हों फिर भी हम उस पुरुष को नहीं भूल सकते जिस ने अपने यौवन भर हमारे स्वरों की सुरधनी के लिए कठिन तपस्या की।

हमारे अन्य प्रकाशन—

नंदिनी—मूल्य ढाई रुपया

पयस्विनी—मूल्य पाँच रुपया

हिमवंत का एक कवि—मूल्य सवा रुपया

प्राप्ति सूत्र— शंभुप्रसाद बहुगुणा

आई. टी. कालेज

लखनऊ